UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182647

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 801 K17S Accession No. GH 384

Author कपूर, कालिदास

Title साहित्य-समीक्षा

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य-समीक्षा

लेखक

कालिदास कपूर, एम० ए०, एल० टी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

तुर्थ वार] १९४० [मूल्य ।।।) आने

Published by
K. Mittra.,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

निवेदन

प्रस्तुत लेख-संग्रह में 'समालोचना' शीर्षक लेख छोड़कर अन्य सब साहित्यिक लेख किसी न किसी पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी-साहित्य में पश्चिमी शैली के आलोचनात्मक ग्रंथों की बहुत कमी है। संगृहीत लेखों में इस शैली के अनुसरण का प्रयत्न किया गया है। इसी लिए लेखक ने इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने का साहस किया है।

लेखक ने हिंदी लिखना पूज्यवर पं० महावीरप्रसादजी वेदी से सीखा है। आप ही ने उसके लिए हिंदी-साहित्य-वा का एक विशेष मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है। गुरु-ऋण से क्त होना तो असंभव है; हाँ, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए लेखक अपना भार अवश्य कुछ हलका करना चाहता है।

कालिदास कपूर

——

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१—हिंदी और उर्दू का विरोध		...	१
२—समालोचना	...	...	१३
३—रामचरितमानस का महत्त्व		...	२२
४—हिंदी में नाटक और अभिनय		...	३६
५—सत्य-हरिश्चंद्र-नाटक	...	...	४३
६—द्विजेंद्र-नाटकावली	...	...	४९
७—हिन्दी में उपन्यास-साहित्य		...	८०
८—सेवासदन	...	...	८४
९—प्रेमाश्रम	...	...	९४
१०—रंगभूमि	...	...	११०
११—छड़ी	...	...	१२०

साहित्य-समीक्षा

१—हिंदी और उर्दू का विरोध

हिंदी और उर्दू का विरोध कुछ कम होता नहीं दिखाई देता। कौंसिल की स्पीचों और दोनों तरफ़ के समाचार-पत्रों के वाद-विवाद के अनुशीलन से तो यही संदेह होता है कि हिंदी और उर्दू का प्रश्न कहीं हमारी राजनीतिक उन्नति में बाधा न डाल दे। इसलिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि दोनों पक्षों के विद्वान् आपस में मिलकर यह प्रश्न हल कर लें। जब हिंदू और मुसलमानों के बीच राजनीतिक झगड़ों पर समझौता करने का प्रयत्न हो रहा है, तो उनके बीच जो भाषा-विषयक जटिल समस्या है उसे भी हल कर देना चाहिए। देश इस समय एकता के लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार है और साहित्य-प्रेमियों की उदारता और सहृदयता पर भी हमें पूर्ण विश्वास है। इसलिए हमें आशा है कि यदि दोनों पक्ष के विद्वान् सम्मिलित होकर समझौते का प्रयत्न करें तो अवश्य सफलता हो सकती है।

सच पूछिए तो हिंदी और उर्दू का वास्तविक कोई विरोध नहीं है। क्या दोनों अलग-अलग भाषाएँ हैं? दोनों भाषाएँ

लिखने और पढ़नेवालों को अपने विचार एक दूसरे से बोल कर प्रकट करने में कठिनाई नहीं पड़ती। तो फिर वे अलग-अलग क्योंकर हैं? लखनऊ, दिल्ली और आगरे में जो भाषा बोली जाती है वह प्रायः एक ही है, जिसे हम डा० ग्रियर्सन के शब्दों में 'हिंदुस्तानी भाषा' कह सकते हैं। उसमें फ़ारसी और अरबी भाषा के शब्द ठूँस दिये और उसको फ़ारसी-लिपि में लिखने लगे तो वह उर्दू हुई; और ठीक उसके विपरीत जब उसमें ठेठ ग्रामीण शब्दों के स्थान पर तत्सम अथवा तद्भव शब्द मिला दिये गये, पर लिखी जाती रही संस्कृत की तरह देवनागरी-लिपि में ही, तब उसका नाम हो गया हिंदी। भेद केवल लिपि और शब्दों का है, भाषा का नहीं।

दुर्भाग्यवश यह भेद दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। न तो पुरानी उर्दू इतनी क्लिष्ट थी और न पुरानी हिंदी ही। पुराने ज़माने में मुसलमान और हिंदू दोनों भाषाओं के साहित्य-भांडार भरने का प्रयत्न करते थे। किसी समय हिंदी के कवि-समुदाय में जायसी और रहीम जैसे मुसलमानों को भी उच्च स्थान प्राप्त था; और, उर्दू-कविता के क्षेत्र में तो आज भी कई हिंदू-कवि श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी समझे जाते हैं। परंतु इतना मानना पड़ेगा कि साहित्य-सेवा में अब भाषा-संबंधी भेद-भाव बढ़ता जा रहा है। इसका उत्तरदाता साधारण जन-समाज नहीं है, क्योंकि पत्रिकाओं और पुस्तकों के बाहर जो क्षेत्र है उसमें तो एक ही भाषा प्रचलित है। भेद उन्हीं सज्जनों

की साहित्य-सेवा का फल है जो अपने-अपने साहित्य की सेवा में तन-मन-धन से लगे हुए हैं।

भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य में एक मार्के की बात यह है कि उसकी भाषा सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। यों तो थोड़ा बहुत अंतर प्रत्येक देश के साहित्य में मिलेगा; परंतु इतना अधिक भेद शायद ही कहीं हो। इसके कई कारण हैं। उनमें से मुख्य कारण यह है कि भारत की अधिकांश जनता अपने साहित्य से बहुत कम परिचित है। इसलिए उसका प्रचार अधिक नहीं होने पाता। परंतु जिस समय भारतीय जन-समाज इस साहित्य से परिचित हो जायगा, उस समय यह भेद बहुत कम रह जायगा।

हिंदी और उर्दू के साहित्य का भी यही हाल है। परंतु, हिंदी में यह भेद प्रायः उर्दू से अधिक मात्रा में पाया जाता है। भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक ढूँढ़ डालिए, कदाचित् दर्जन भर से अधिक ऐसे सज्जन न मिलेंगे जो अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकें कि संस्कृतगर्भित हिंदी हमारी मातृ-भाषा है, अर्थात् वे बचपन से वही भाषा बोलते चले आ रहे हैं। दूसरी ओर यह जानकर पाठकों को आश्चर्य होगा कि दिल्ली, आगरे और लखनऊ के नवाबों और काश्मीरियों तथा कायस्थों के ऊँचे घरानों के विषय में कौन कहे, छोटे घरों की स्त्रियाँ तक फ़िसाने-आज़ाद और अवध-अख़बार की उर्दू बोलती हैं। यही कारण है जो उर्दू-साहित्य, इतनी कठिन लिपि में लिखे

जाने पर भी, इतना प्रचलित है—यद्यपि हिंदी के सामने उसका बल घट रहा है—और हिंदी-साहित्य, देवनागरी के सदृश सर्वमान्य लिपि में लिखे जाने पर भी, जन-समाज में यथेष्ट उन्नति नहीं कर पाया। यदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखना हो तो आजकल की नाटक-मंडलियों की भाषा की ओर ध्यान दीजिए। क्या उनकी भाषा हिंदी है? यदि उनके नाटकों की भाषा साधारण जन-समाज को प्रिय न होती तो वे क्योंकर लाभ उठा सकतीं और क्यों न उनके नाटक हिंदी में लिखे जाते? तुच्छ नौटंकियों की भाषा में भी, जिनका प्रचार आज अभाग्यवश प्रांत के बहुत-से ज़िलों में है, फ़ारसी-शब्द अधिकतर पाये जाते हैं, यद्यपि इनका प्रकाशन देवनागरी लिपि में ही होता है। बहुत-से गंदे उपन्यासों की भाषा भी क्लिष्ट हिंदी से बहुत कुछ भिन्न है। संक्षेप में यों कहिए कि साहित्य-संसार में जिस हिंदी का अधिक मान है उससे जन-समाज उतना परिचित नहीं है।

भाषा-भेद तो साहित्य-सेवियों का पैदा किया हुआ है, परंतु लिपि-भेद की जड़ बहुत गहरी है। मुसलमानों ने उत्तरी भारतवर्ष में राज्य-स्थापन करके अपनी फ़ारसी-लिपि का प्रचार किया। जब तक उनका प्रभुत्व रहा, और जिन-जिन प्रांतों में वह अधिक रहा, उन्हीं में इस लिपि का प्रचार हुआ। राज-नीतिक दबाव के घटने पर देवनागरी-लिपि, जो फ़ारसी-लिपि से सर्वथा श्रेष्ठ है, फिर से अपना सिक्का जमाने लगी। अभी तक फ़ारसी-लिपि जो भारतवर्ष से हटी नहीं, इसके कई कारण हैं।

एक तो यह कि पंजाब और संयुक्त-प्रांत की अदालतों और सरकारी महकमों में अभी तक उसका अखंड राज्य है। इसमें अँगरेज़ी सरकार का भी अधिक दोष नहीं है; क्योंकि कम से कम उत्तरी भारत में तो मुग़ल-राज्य ही के खँडहरों पर उसने अपनी शासन-पद्धति का भवन खड़ा किया है। दूसरे, फ़ारसी-लिपि के प्रचलित रहने से कुछ लोगों की स्वार्थ-सिद्धि भी है। यदि वह एकदम उठा दी जाय तो कितने ही मुंशियों की रोटी में बाधा पड़े। तीसरे, मुसलमानों का हठ है कि फ़ारसी-लिपि चाहे जितनी दोषयुक्त क्यों न हो, उसने उनको अंधकार में पड़े रहने में चाहे जितनी सहायता दी हो, परंतु वह उनकी जातीय लिपि है और वे उसे न छोड़ेंगे— जैसा, थोड़े दिन हुए, वे कहा करते थे कि तुर्की और फ़ारस उनका देश है। समय ने उनके राजनीतिक विचार बदल दिये हैं, और यदि ईश्वर को इस जाति का भला करना है तो उनका यह हठ भी दूर हो जायगा। उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि जातीय भाषा तथा लिपि को देश-काल के अनुसार परिवर्तित करने से लाभ ही लाभ है, हानि तनिक भी नहीं। भाषा या लिपि के बदलने से किसी जाति या धर्म की हानि नहीं हो सकती। पारसियों को देखिए, इतने अल्प-संख्यक होने तथा दूसरी भाषा और लिपि का आश्रय लेने पर भी क्या वे धर्मच्युत हो गये? आपके पूर्वजों ने फ़ारसी और अरबी छोड़कर जब भारतीय भाषाओं का आश्रय लिया तब आप उस पुरानी लिपि की लकीर के फ़क़ीर क्यों हो रहे हैं?

हिंदी-साहित्य सर्वसाधारण के लिए कठिन होने पर भी, देवनागरी के सत्संग के कारण, दिन-दिन उन्नति कर रहा है। उसकी भाषा-विषयक क्लिष्टता दूर कर देने से क्या उसकी उन्नति वेगवती न हो जायगी ? और कारण चाहे जो कुछ हों, परंतु सबसे बड़ा कारण, जो हिंदी-उर्दू के बीच में झगड़ा डाले हुए है, यह है कि आधुनिक हिंदी संस्कृत की बहिन बनना चाहती है। सरलता का होना तो हिंदी-साहित्य-समाज में मानों बड़ा भारी दोष समझा जाता है। यदि संस्कृत के शब्द कूट-कूट कर भरे हों तो चारों ओर से धन्य-धन्य की ध्वनि आने लगती है। परंतु यदि लेखक ने प्रचलित फ़ारसी या अँगरेज़ी-शब्दों का थोड़ा भी प्रयोग किया तो वह भाषा को विकृत करने का दोषी समझा जाता है। शुद्धता का अर्थ क्या यह है कि भाषा में संस्कृत को छोड़कर और किसी भाषा के शब्द न हों ? यह कहना तो वैसा ही होगा जैसे कोई अँगरेज़ी के लिए यह कहे कि उसमें लैटिन को छोड़कर और किसी भाषा के शब्द प्रचलित न होने पावें। परंतु ऐसी शुद्धता का स्थिर रखना समय की तीव्र धारा के आगे टाँग अड़ाना है। शुद्धता की यह सनक भाषा के विकास में बाधक है।

विचार प्रकट करने के लिए भाषा की उत्पत्ति हुई है। जो जो रंग भाषा ने अपने विकास में बदले हैं उन्हें हम संक्षिप्त रूप में बच्चों की भाषा के विकास में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पहले पहल मनुष्य-जाति के विचार बहुत परिमित थे। ज्यों-

ज्यों मनुष्य का संसर्ग समाज से बढ़ता गया त्यों-त्यों उसकी विचार-परिधि भी बढ़ती गई। तब अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अधिक शब्दों की आवश्यकता हुई। जिन विकासों के द्वारा यह विचार उसके मस्तिष्क में उत्पन्न हुए उनको उसने तदनुरूप शब्दों में प्रकट किया। इससे उसकी भाषा के शब्दों की संख्या बढ़ती रही। नये शब्द पहले तो कुछ समय तक खलते रहे; वे आगंतुक समझे जाते रहे। उनकी ठीक वही दशा रही जो किसी जाति-समूह की नये देश में बसने पर होती है। परंतु भाषा में बार बार व्यवहृत होने से वे शब्द उसी भाषा में फबने लगे। किसी देश के निवासियों के मस्तिष्क और भाषा में तो नये विचारों तथा नये शब्दों को स्थान पाने में देर लगती है और कहीं-कहीं वे बड़ी जल्दी अपना लिये जाते हैं। यह जलवायु के प्रभाव का फल है। परंतु यह प्रायः देखा जाता है कि जिन देशों में सभ्यता उच्च स्थान पाकर पुरानी पड़ जाती है उनमें वृद्ध मनुष्यों की तरह, नये विचारों से चिढ़ हो जाती है; उनमें अहंकार की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने साहित्य, अपनी सभ्यता, अपने बल और अपनी विद्या के सामने अन्य सबको तुच्छ समझने लगते हैं।

यही दशा भारतवर्ष की है। जिस समय समस्त संसार अविद्यांधकार में पड़ा हुआ था, उस समय आर्यावर्त्त उच्च विचार-पूर्ण वेद-ध्वनि से गूँज रहा था। अभाग्यवश भारतवर्ष में पैर रखते ही आर्यजाति को अंधकार में पड़ी हुई

कोल-भील-जातियों का सामना करना पड़ा। उसने अपने विचार और भाषा शुद्ध रखने के लिए मस्तिष्क के कपाट बंद कर लिये। बस, उसी समय से वेदभाषा का ह्रास होने लगा। उस समय तक वेदभाषा और सर्वसाधारण की भाषा में कोई अंतर न था। इस परिवर्तन के साथ-साथ यह अंतर बढ़ने लगा। सर्वसाधारण की भाषा में अनार्य शब्द बढ़ने लगे; यहाँ तक कि आर्यभाषा के साहित्य-सेवियों को उसका संस्कार करना पड़ा। उस संस्कार की हुई अर्थात् संस्कृत-भाषा में भी अब ढेरों अनार्य शब्द आ गये। अर्थात्, उसको भी वे शुद्ध दशा में स्थिर न रख सके। जो इस विषय के ज्ञाता हैं वे बता सकते हैं कि पाणिनि-काल से कालिदास के समय तक व्याकरण के कड़े बंधनों से जकड़े रहने पर भी संस्कृत के शब्द-भांडार में कितना अंतर आ गया। भोज के समय तक यवन, शक तथा हूण-जाति की भाषाओं के कितने ही शब्द उसके विशाल मंदिर में घुस आये, यद्यपि उनको इसमें बहुत कुछ कठिनाई पड़ी होगी। मुसलमान-काल से तो संस्कृत का प्रचार बहुत ही कम हो गया। चौके की तो वह पहले ही से पाबंद थी, अब राजकीय अत्याचार के सामने उसने महलों से भाग कर काशी और नदिया के झोपड़ों में शरण ली। वहाँ उसकी टीका-टिप्पणी के सिवा और क्या हो सकता था! ऐसी दशा में यदि उसमें फ़ारसी के शब्द न आये तो आश्चर्य ही क्या! क्या मृतप्राय

शरीर में भी नये रक्त का संचार हो सकता है? अब अँगरेज़ी शासन के समय से फिर इस दिव्य भाषा के जीर्णोद्धार का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष में ही नहीं, योरप और अमेरिका में भी अब इसने उच्च श्रेणी का स्थान पा लिया है, परंतु इससे उसके भांडार में वृद्धि नहीं हो सकती। अन्य भाषाओं को उससे चाहे जो कुछ लाभ पहुँचे, परंतु वह उनसे कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकती।

भारतवर्ष की वर्त्तमान भाषाओं का इतिहास उस समय से आरंभ होता है जिस समय से संस्कृत के युग का अंत होता है। यह कहना कि वे संस्कृत-भाषा से निकली हैं, भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों का उल्लंघन करना है। हाँ, यह कहना ठीक होगा कि उन सबका थोड़ा बहुत संबंध संस्कृत से अवश्य है। इन सब भाषाओं में प्रारंभ ही से सर्वोच्च स्थान उस भाषा को मिला जो दिल्ली से लेकर बिहार तक बोली जाती थी। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि प्राचीन समय में अयोध्या, पाटलिपुत्र तथा इंद्रप्रस्थ आर्य-सभ्यता के केंद्र थे। वहीं से समस्त भारतवर्ष का शासन होता था। वहीं से नवयुवक शासन-प्रणाली की शिक्षा पाकर भिन्न-भिन्न प्रांतों का शासन करते थे; उन्हीं की राज-भाषा सीखकर उन प्रांतवालों को कार्य-साधन करना पड़ता था। यही दशा मुसलमान-काल में भी रही। तब से दिल्ली और आगरा शासन के केंद्र हो गये और दिल्ली की भाषा राज-भाषा हो गई। दूसरा कारण यह था कि भारत के इस भाग में प्राचीन समय

से आर्य तथा बौद्धधर्म के तीर्थ-स्थान रहे हैं। काशी की गलियों में ही—विश्वनाथजी के मंदिर में ही—खड़े होकर आप प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा होने के योग्य है। मदरासी, महाराष्ट्र, बंगाली, पंजाबी, मारवाड़ी, गुजराती, सभी एक सूत्र से बँधे चले आ रहे हैं। दिल्ली में भी वही रंगत है—यहाँ संसार-सुख के लिए और वहाँ स्वर्ग-सुख के लिए—परंतु परिणाम एक ही निकलता है। भारतवर्ष में ऐसा कोई शहर नहीं है जहाँ दिल्ली और काशी की हिंदी समझनेवाले लोग न मिल सकें और आपका काम आप ही की भाषा के द्वारा न चल सके।

उस हिंदी-भाषा का क्या रूप है जो दिल्ली से पटने तक बोली जाती है? क्या उसमें संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों की उसी तरह भरमार है जैसी कि अभाग्यवश आजकल हिंदी और उर्दू-साहित्य में देखी जाती है? संस्कृत और फ़ारसी से निकले हुए अर्थात् तद्भव शब्द उसमें यथेष्ट संख्या में हैं; पर उन्हीं भाषाओं के जैसे के तैसे (तद्वत् या तत्सम) शब्द बहुत कम। ऐसे शब्द तो आँख की किरकिरी की तरह खटकते हैं। समय के प्रवाह ने पुरानी भाषाओं के खँडहरों को तोड़कर इस भाषा में शब्दों को स्वाभाविक रूप दे दिया है। साहित्य की भाषा में उसके कुछ सेवियों ने इन पुरानी भाषाओं के खँडहरों को तोड़कर—समय का काम अपने हाथ में लेकर—अपनी बुद्धिमानी दिखाई है। इन्होंने यही नहीं किया कि उन शब्दों को जैसे का तैसा रख दिया हो, किंतु बहुतेरे तो अपनी

बुद्धिमत्ता यहाँ तक दिखाते हैं कि वे व्याकरण-संबंध को भी टूटने नहीं देते। 'ज़रूरत' का बहुवचन उर्दू के सेवक 'ज़रूरतें' न करेंगे, वे फ़ारसी व्याकरण के अनुसार 'जरूरयात' लिखेंगे। हिंदी के दरबार में भी संस्कृत के संधि और समास-संबंधी नियम उसी रूप में आदर पाते हुए दिखाई देते हैं।

यह उर्दू-फ़ारसी और हिंदी-संस्कृत का ढकोसला कब तक चलेगा? समय ने अँगरेज़ी के पुराने साहित्य की भी इस आन को नहीं रक्खा कि लैटिन के शब्द अँगरेज़ी में अपने ही रूप में रहें। अब तो सब शब्दों का निराला ही रंग है, चाहे जिस भाषा से वे निकले हों। यही दशा वर्त्तमान हिंदी-उर्दू-साहित्य की होनेवाली है। समय से लड़कर किसी को भी सफलता हुई है? वह इन शब्दों को—चाहे जिस भाषा से वे इस समय नाता जोड़े हों—एक ही रंग में रँग देगा और भविष्य की राष्ट्रभाषा का रूप न तो वर्त्तमान हिंदी ही होगा और न उर्दू ही। वह एक ऐसी भाषा होगी जिसमें वर्त्तमान समय की सब भाषाओं का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहेगा। राष्ट्र-लिपि देव-नागरी ही होगी, चाहे उसका रूप अन्य लिपियों के संसर्ग से कुछ बदल जाय। फ़ारसी-लिपि को अकेले सब लिपियों से लड़ना है। वह भारतवर्ष के लिपि-युद्ध में विजय नहीं प्राप्त कर सकती। उसको अपना बस्ता बाँधकर फ़ारस और अफ़ग़ा-निस्तान की शरण लेनी पड़ेगी। उर्दू और फ़ारसी-लिपि के लिए मुसलमान चाहे जितना हठ करें, परंतु यदि ईश्वर को

उनका वर्त्तमान महत्त्व बनाये रखना है तो समय उनकी बुद्धि को अवश्य बदल देगा। हिंदी-साहित्य संस्कृत के घर बैठकर फ़ारसी के विरुद्ध चाहे जितना मज़बूत क़िला बनावे, परंतु समय उसको तोड़ डालेगा और फ़ारसी के शब्दों को उसमें अवश्य स्थान मिलेगा; पर अपने रूप में नहीं; हिंदी ही की पगड़ी बाँधकर वे राष्ट्र-भाषा के दरबार में आदर पा सकेंगे, न कि फ़ारसी की फ़ेज पहनकर।

समय की गति को अच्छी तरह पहचानकर जब दोनों पक्षों के विद्वान् अपना हठ छोड़ देंगे और आपस में बैठकर विचार करेंगे, तथा वे जो कुछ ठीक समझें उसको कार्य रूप में परिणत करेंगे, तभी भारतवर्ष का भला होगा*।

---

* यह लेख अगस्त, १९१८ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। गुरुवर द्विवेदीजी ने इस पर जो पत्र लिखा था वह यों है—मेरी भी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार बर्ताव भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं। अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उन्हें मैं हिंदी के ही शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे, कहते थे कि हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी 'सरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

सौभाग्य की बात है कि अब संस्कृतगर्भित हिंदी लिखने का चलन कम होता जा रहा है। अधिकांश साहित्यसेवी बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करने लगे हैं।

समालोचना*

हिंदी-साहित्य अब उस सीमा तक पहुँच गया है कि विशेषज्ञ समालोचकों के बिना उसकी गति को ठीक रखना कठिन है। साहित्य-कानन इतना विस्तृत हो गया है कि अच्छे साहित्य-वृक्षों की रक्षा के लिए अब कई साहित्यिक मालियों की आवश्यकता हो गई है, जो होनहार और उपयोगी पौदों की सेवा करें और दूषित दुरुपयोगी झाड़-झंखाड़ साफ़ करते रहें।

कोई समय था जब हिंदी में इने-गिने साहित्य-रत्न थे। जनता में उनका आदर था। परंतु उनकी परख करनेवाले बहुत

---

* 'समालोचना' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में मेरा सर्व-प्रथम लेख था। पूज्यवर द्विवेदीजी के पत्र का प्रथम वाक्य था "आप तो पड़ोस ही में छिपे रुस्तम निकले।" द्विवेदीजी ने दिसम्बर १९१७ की 'सरस्वती' में 'समालोचना का सत्कार' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। मेरे लेख में संपादकीय लेख का बहुत कुछ प्रतिवाद था और विचार कच्चे थे; परंतु उदारता देखिए! सहर्ष प्रकाशित कर दिया और आज्ञा दी कि आलोचनात्मक लेख भेजो। यों आपने हिंदी-साहित्य-सेवा का मार्ग मेरे लिए निर्दिष्ट कर दिया। प्रस्तुत लेख पहली बार प्रकाशित हो रहा है।

—लेखक

कम थे। सूर, तुलसी, बिहारी, केशव, भूषण के अतिरिक्त अन्य साहित्यिकों का खद्योत समान जहाँ तहाँ थोड़ा बहुत प्रकाश था, अधिक नहीं।

शांति, विद्या-प्रचार और छापेख़ानों की बदौलत अब हिंदी-साहित्य के अनेक प्रतिभाशाली कवि, इतिहासज्ञ, उपन्यास-लेखक और नाटककार जन्म लेने लगे हैं। साथ ही ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी हैं जिनके प्रचार से जनता की सामाजिक और नैतिक हानि होने की संभावना है और जो नवयुवकों के हाथ लगकर उनके विचारों में विकार उत्पन्न कर सकती हैं। साहित्यिक त्रिमूर्त्ति में इस समय ब्रह्मा का ही ख़ूब ज़ोर है। साहित्य-सृष्टि तो धड़ल्ले से हो रही है, परन्तु साहित्य-विष्णु लक्ष्मी की गोद में सो रहे हैं; और साहित्य-शिव सचेत तो अवश्य हो गये हैं, परंतु संहारकारी गणों को अभी एकत्र नहीं कर पाये हैं।

देश में जहाँ साहित्य था, उसके साथ उसके समालोचक भी थे। परंतु उनकी समालोचना का ढंग उस समय के लिए ही योग्य था। उस समय साहित्य की रचना साधारण जनता के लिए नहीं होती थी। इने-गिने साहित्य-प्रेमी राजाओं और रईसों के दरबारों में ही कवियों और नाटककारों की प्रतिष्ठा थी। इसलिए न कवियों को यह परवाह थी कि हमारी रचनाओं का जनता पर क्या प्रभाव होगा, और न उनके समालोचकों को ही सामाजिक दृष्टि-कोण से इन रचनाओं के परखने की आवश्यकता

थी। फल यह हुआ कि प्राचीन संस्कृत की आलोचना-पद्धति में अलंकार-भेद, पिंगल, और भाषा-संबंधी गुण या अवगुण—प्रसादगुण, रूपक, शब्द-गौरव या व्याकरण-संबंधी निरंकुशता—इन्हीं का समावेश था। मुसलमान-काल में भक्ति-मार्ग के उपासकों ने जो साहित्य-रचना की, वह अवश्य जनता के लिए थी। जनता ने उसका ख़ूब आदर किया, तभी तो कबीर की साखियाँ, सूरदास के पद, और तुलसीदास की चौपाइयाँ हिंदी-संसार में इतनी प्रचलित हैं। परंतु जनता ने केवल आनन्द उठाना ही जाना। "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" कहकर ही सबने संतोष किया।

देश में अँगरेज़ी राज्य फैला। हमने एक विदेशी साहित्य से परिचय प्राप्त किया। उसके नवीन सौंदर्य ने हमें चकित कर दिया। साये के सामने हम साड़ी के सौंदर्य को तुच्छ समझने लगे। शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ और टेनिसन के सामने कालिदास और तुलसीदास की आभा हमें फीकी मालूम पड़ने लगी। उधर हमारे संसर्ग से विदेशियों ने हमारे साहित्य के भी दर्शन किये। हम तो उनके साहित्य की कुछ सच्ची परख न कर सके, और करते भी तो हमारी कौन सुनता, परंतु उन्होंने हमारी आँखें अवश्य खोल दीं। उन्होंने कहा कि तुम हमारे साहित्य पर लट्टू हो रहे हो, अपने साहित्य को तो देखो। कालिदास, सूरदास और तुलसीदास तुम्हारे देश के ही नहीं, संसार के साहित्य-रत्न हैं।

अब हम अपने साहित्य-रत्नों का आदर करने लगे हैं; परंतु उनकी यथेष्ट सेवा करने का गौरव अभी हमें नहीं प्राप्त हुआ। तुलसीदास की अनेक टीका-टिप्पणियाँ हो चुकी हैं। उनकी कई जीवनियाँ भी निकल चुकी हैं। कहाँ पैदा हुए, कब पैदा हुए, कहाँ मरे, कब मरे, किस जाति के थे, गुरु कौन थे—इन सब पर तो प्रकाश डाला गया है; रचनाओं की भी पुराने ढंग पर ख़ूब आलोचना हुई है; उनके शरीर और कविता के बाह्य रूप की भी परख की गई है; किंतु उन दोनों के भीतर जो कवि का हृदय है, उस पर अभी तक यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है। सूरदास के विभिन्न पद-संग्रहों की भूमिका में कवि के जीवन तथा काव्य-सौंदर्य पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है; परंतु सूरदास पर कोई स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया है। अब विश्वविद्यालयों में भी हिंदी को आदर मिलने लगा है। इसलिए आशा है कि हमारे हिंदी-स्नातकों में से कुछ उत्साही और सहृदय नवयुवक अपने साहित्य-रत्नों की समालोचना करने का भार अपने सिर लेंगे।

लेखक को मुज़फ़्फ़रपुर के साहित्य-सम्मेलन की नवयुवक-मंडली का कुछ अनुभव हो चुका है। इसलिए चेतावनी देना भी आवश्यक है। रस्किन ने एक जगह अपने नवयुवक पाठकों को सलाह दी है कि यदि आपको किसी नामी साहित्यिक की रचना फीकी मालूम पड़े तो तुरंत ही

उसका तिरस्कार न कीजिए। उसे पढ़िए और उसका मनन कीजिए, यह सोचकर कि यदि आप इस रचना का चमत्कार नहीं देख पाये हैं, तो कदाचित् आपकी समझ का ही यह दोष होगा। हिंदी के होनहार साहित्य-सेवियों से लेखक का भी यही विनम्र निवेदन है।

इस समालोचना-कार्य के लिए तैयारी क्योंकर हो? गुरुपद पाने के लिए बहुत समय तक शिष्यत्व करना पड़ता है। इसलिए निवेदन है कि तैयारी के समय आदरणीय साहित्यिकों की रचनाओं का ही अध्ययन किया जाय। उनकी परख के लिए समकालीन विदेशी साहित्यिकों की रचनाओं और पूर्वकालीन स्वदेशी रचनाओं से उनकी तुलना की जाय। जिस देश-काल से उन रचनाओं का संबंध हो उसकी सामाजिक अवस्था से परिचय प्राप्त किया जाय। फिर गतकालीन साहित्य पर उन रचनाओं के प्रभाव की जाँच की जाय। साहित्यिक पुरुष की जीवन-घटनाओं का उसकी रचनाओं पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए उसकी जीवनी का इस दृष्टि से ही अध्ययन किया जाय कि जो जो मुसीबतें उस पर बीती हैं, जो जो सुख उसने लूटे हैं, उनसे उत्पन्न मनोभाव उसकी रचनाओं में कहाँ-कहाँ छिपे पड़े हैं। हम यह नहीं कहते कि अलंकार, पिंगल इत्यादि जो प्राचीन आलोचना-पद्धति के अंग हैं, उनका अध्ययन न किया जाय। इन विषयों के ज्ञान की भी आवश्यकता है। परंतु इनके

चक्कर में अधिक समय नष्ट करने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। प्राचीन दरबारी आलोचना का समय बीत चुका, अब नवीन सामाजिक आलोचना का समय है।

संहार-कार्य के लिए शीघ्रता न कीजिए; अभी अनुभवी समालोचकों पर ही यह भार रहने दीजिए। जब आप साहित्य की यथेष्ट सेवा कर चुकेंगे, जब आप अपने विषय के विशेषज्ञ हो जायँगे, तब साहित्य-समाज आपकी संहारकारी आलोचनाओं का आदर करेगा, अभी नहीं।

अब कुछ निवेदन अपने उन प्रतिष्ठित साहित्य-सेवियों से है जो साहित्य को शुद्ध रखने का अधिकार रखते हैं, जो कच्चे लेखकों को साहित्य के दंगल में समय से पहले उतरने से मना कर सकते हैं, जो धन-लोलुप प्रकाशकों को अपनी तिरस्कार-दृष्टि से हानिकारक साहित्य बढ़ाने से रोक सकते हैं।

अँगरेज़ी साहित्य-संसार में ऐसे समालोचकों का पद निर्दिष्ट हो गया है। वहाँ प्रत्येक प्रतिष्ठित विशेषज्ञ का यह भी कर्तव्य रहता है कि अपने विषय में प्रकाशित पुस्तक की वह आलोचना करे। उसकी आलोचना पर ही जनता अपनी राय क़ायम करती है। हिंदी-साहित्य में अभी यह बात नहीं है। अभी तक तो यहाँ प्रचार की ही फ़िक्र रही है। अभी तक यही धुन रही है कि

साहित्य-क्षेत्र विस्तृत हो; यदि उसमें साधारण श्रेणी के या हानिकारक ग्रंथ भी हों तो कोई आपत्ति नहीं। परंतु अब वह समय आ गया है कि हमारे प्रतिष्ठित साहित्य-सेवी साहित्य-क्षेत्र की 'निराई' का काम हाथ में लें। इस कार्य के लिए साहस और धैर्य की आवश्यकता है, क्योंकि असंतुष्ट लेखक की 'प्रत्यालोचना' और जनता की लापरवाही का सामना करना है। साथ ही समालोचना की शैली को भी परिमार्जित करना आवश्यक है।

आजकल जो समालोचना का ढंग प्रचलित है उसमें या तो किसी ग्रंथ के दोष ही दोष दिखा दिये जाते हैं, या फिर तारीफ़ के पुल बाँध दिये जाते हैं। यह ठीक नहीं। आलोचना में प्रकाश और छाया, गुण और अवगुण, दोनों का ऐसा संमिश्रण होना चाहिए कि पाठक के हृदय में पुस्तक के प्रति तिरस्कार का भाव न आवे, और लेखक का दिल न दुखे।

इस ढंग की आलोचना विशेषतया साधारण श्रेणी की पुस्तकों के लिए ही हितकर है। किसी प्रतिभाशाली या उदीयमान लेखक की लेखनी से निकली हुई पुस्तक की आलोचना में विशेष सहृदयता से काम लेने की आवश्यकता है। उसकी आलोचना के लिए विशेष रूप से तैयारी करना आवश्यक है।

रह गये ऐसे ग्रंथ जो युवक-समाज के विचारों में विकार उत्पन्न कर सकते हैं, जो समाज के नैतिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। ऐसे ग्रंथों पर समालोचक को अपनी त्रिनेत्र-दृष्टि डालने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश अब ऐसे साहित्य की भी सृष्टि हो रही है, जिसका संहार करना समालोचक-समुदाय का प्रथम कर्तव्य है।

अभी तक समालोचना का भार प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों पर ही रहा है। संपादक प्रत्येक विषय के विद्वान् तो होते ही नहीं। फलतः उनके द्वारा प्रायः अच्छी पुस्तकों के भी परिचय-मात्र निकलते हैं। इस कार्य में विशेषज्ञ विद्वानों के भी हाथ बँटाने की आवश्यकता है।

अंतिम निवेदन पाठक-समाज से है। कोई समय था जब हमें आपकी परवाह न थी। राजाओं और रईसों के दरबारों में हमारी उदरपूर्ति होती थी। परंतु अब हमें आप ही का भरोसा है। इसलिए बहुत कुछ आप ही पर निर्भर है कि हम कैसे साहित्य की सृष्टि करें। आपकी सम्मिलित समालोचना के सामने किसी व्यक्ति-विशेष की समालोचना नहीं ठहर सकती। यह समालोचना आप यों प्रकट करते हैं कि अमुक पुस्तक हाथों हाथ बिक रही है या प्रकाशक की अलमारियों में शोभा दे रही है। आपकी रुचि पर हमें फ़ैसला सुनाने का कोई अधिकार नहीं है। एक विनम्र प्रश्न ही करना है। किसी देश-काल की सामाजिक अवस्था का इस बात

की जाँच से बहुत अच्छा पता चल सकता है कि उसमें किस ढंग के साहित्य का विशेष प्रचार था। हमारी भावी संतान हमारी सामाजिक स्थिति का यों ही निर्णय करेगी। क्या यह आशा की जाय कि यह निर्णय हमारे पक्ष में होगा?

३—रामचरितमानस का महत्त्व

इस लेख में रामचरितमानस के विधाता गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में कुछ नहीं कहना है, न रामचरितमानस के अतिरिक्त उनके किसी और ग्रंथ के विषय में विचार करना है।

संसार के कवि-समाज में तुलसीदास का ऊँचा आसन है। उनका जीवन-चरित लिखनेवालों को वही कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जो शेक्सपियर के भक्तों को इँगलिस्तान में, होमर के भक्तों को यूनान में, और कालिदास, वाल्मीकि और कृष्ण के भक्तों को भारत में पड़ी हैं। और इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं, क्योंकि कवि के समान निःस्वार्थ जीवन संसार में किसी और का नहीं होता। कवियों का मन उनके शरीर से संबंध न रखकर प्रकृति के प्रत्येक अंश में विचरता है और उसको जीवन प्रदान करता है। उसी जीवित प्रकृति को वे कविता के रूप में संसार के लिए छोड़ जाते हैं। उनके मनोभावों या उनकी वासनाओं को ढूँढ़ना हो तो उनकी कविता में ढूँढ़ो। जो महाशय उनके स्थूल शरीर के कृत्यों के विषय में खोज करते हैं, उनका वह कठिन प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है; परंतु उससे उनके विषय में जनता को कुछ विशेष ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। अमुक कवि किस वर्ष पैदा हुआ, कहाँ और किससे अध्ययन किया, कौन-कौन विषयों में पारदर्शिता प्राप्त की, कौन-

कौन पुस्तकें किस-किस समय लिखीं, किस समय शरीर छोड़ा— ये सब बातें रुचिकर अवश्य मालूम होती हैं। परंतु यदि इन बातों का संबंध कवि के जीवन से न हो तो इनमें किसी अन्य साधारण पुरुष के जीवन-चरित की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं मालूम होती। कवि-चरित मे जो विशेषता होती है वह उनके मानसिक जीवन से संबंध रखती है। अतएव, यदि उनके विषय में हमें कुछ जानना है तो जो कुछ वे हमें दे गये हैं उसी से संतोष करना चाहिए। क्या जानें उन्होंने किस लिए अपने शरीर के जीवन को हमसे छिपा रक्खा। तो फिर क्यों हम उनकी इच्छा के विरुद्ध चलकर पुराने खँडहरों को तोड़ें और उनके भौतिक शरीर को कष्ट दें। हमें चाहिए कि हम उनकी दिव्य प्रतिभा से उत्पन्न राम, हैम्लेट, ओडीसियस के सदृश वीरों को छाती से लगावें; शकुंतला, सीता, हेलेन के सदृश नारी-रत्नों को हृदय का शृंगार बनावें; और उन्हीं के दिव्य स्वरूप में कवियों की आत्मा के दर्शन करें।

रामचरितमानस संसार के महाकाव्यों में गिने जाने योग्य है। चीनी और जापानी भाषाओं का तो मुझे ज्ञान नहीं, परंतु जो जो महाकाव्य रामचरितमानस के साथ स्थान पाने योग्य हैं उनके नाम सर्वसाधारण से छिपे नहीं। प्राचीन भाषाओं में कालिदासकृत रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण, होमरकृत ईलियड, वर्जिलकृत ईनियड और फ़िरदौसीकृत शाहनामा उच्च श्रेणी के काव्य समझे जाते हैं। आधुनिक भाषाओं

में मिल्टन का पैराडाइज़ लॉस्ट अँगरेज़ी में, दांते का डिवाइन कमेडी इटेलियन में और माइकेल मधुसूदन दत्त कृत मेघनाद-वध बँगला में—ये काव्य उच्च पद पाने योग्य हैं। फ्रेंच और जर्मन-साहित्य में नाटकों और फुटकर कविताओं की तो भरमार है, पर अच्छे महाकाव्यों का प्रायः अभाव ही सा है।

रामचरितमानस के महत्त्व का निर्णय इन्हीं पूर्व-निर्दिष्ट ग्रंथों में से करना है। इस विषय में हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि हम रामचरितमानस की तुलना महाकाव्यों ही से करेंगे। कविता का एक रूप नाटक और दूसरा आख्यान है, जिसका विस्तार बढ़ने से वह महा-काव्य नाम से उल्लिखित होता है। इसलिए नाटक की तुलना महाकाव्य से करना ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि हम इन ग्रंथों के विशेष-विशेष अंशों की तुलना एक दूसरे से न करेंगे। भाव तथा कवित्व की तुलना न तो हम करने के योग्य ही हैं, न इस छोटे से लेख में ऐसा प्रयत्न करने से इन कवियों के काव्य-सागर में इनके भाव-रत्नों का पता ही लग सकता है। हमें विचार केवल यह करना है कि पूर्वोक्त ग्रंथों में से मनुष्य के हृदय में किसने कहाँ तक स्थान पाया है; और इसी प्रश्न के हल होने पर हम उसके महत्त्व का निर्णय कर सकेंगे।

किसी कविता का जीवन-काल यों स्थिर हो सकता है कि वह मनुष्य के आंतरिक अथवा मानसिक जीवन से कहाँ

तक मिलती है; कहाँ तक उससे उत्पन्न हुए भाव उसके मन से मिल जाते हैं; और कहाँ तक वे उसके जीवन को दूसरे ही रंग में रँग देते हैं। जब तक कविताओं में यह आकर्षण-शक्ति रहती है, तभी तक वे जीवित रहती हैं; उसके पश्चात् उनका अंतकाल आ जाता है। चाहे वे पुस्तक-रूप में जितने समय तक रहें, परंतु मनुष्य के हृदय में उनको स्थान नहीं मिलता। बहुत-सी कविताएँ किसी विशेष देश या काल के लिए ही होती हैं। उनका जीवन उसी समय तक के लिए होता है और उनकी प्रचार-सीमा भी उसी देश या काल के अंतर्गत रहती है। ऐसे काव्य-रत्न थोड़े ही हैं जो सर्व-व्यापी हों, जो किसी देश या काल के बंधन से न बँधे हों। ऐसे ही ग्रंथ अमर होते हैं। ये जहाँ पहुँचते हैं वहीं मनुष्य के हृदय में स्थान पा लेते हैं। इनके जन्मदाता मानसिक जीवन के अंग हो जाते हैं। ये किसी देश या काल के बंधन से नहीं बँधे रहते।

अच्छा तो ऐसे ग्रंथों और क्षण-भंगुर कविताओं के भावों में अंतर क्या है? यही कि मनुष्य के गूढ़ से गूढ़ भावों तक उनकी पहुँच होती है। कविता के रूप में अपने भावों को मनुष्य इन्हीं अमर ग्रंथों में पाता है, और बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्र एक दूसरे के गले लगते हैं।

भाषा और विषय के संयोग से महाकाव्य का जन्म होता है। भावों तक कवि चाहे जितना पहुँच गया हो, चाहे जितना अच्छा चित्र उसने उनका खींचा हो, परंतु जिस

भाषा में उसने उनको प्रकट किया है, वह यदि मनुष्य के हृदय में जीवित नहीं, यदि मनुष्य अपने प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि को उस भाषा में प्रकट नहीं करता, तो वे भाव, उस भाषा के रूप में, उसके हृदय तक नहीं पहुँच सकते और वह उन्हें पहचान नहीं सकता। इस विचार से कि वे भाव उसके पूर्वजों के हैं, कदाचित् वह उनका आदर करे और अपनी भाषा के आभरण पहनाकर उनको पहचानने का प्रयत्न करे। परंतु उसे पूर्णतया सफलता नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं का जितना आदर है, उन पर हमारा उतना प्रेम नहीं।

इन प्राचीन भाषाओं के अधिकतर ग्रंथों का अनुवाद प्रचलित भाषाओं में हो गया है। इससे लाभ भी अवश्य हुआ है। हम अपने पूर्वजों के साधारण विचारों को अपनी ही भाषा में समझने लगे हैं। परंतु उनके काव्य-रस का स्वाद हम अनुवादित ग्रंथों में नहीं पा सकते। यदि अनुवादक भी कवि है तो काव्य का ठीक ठीक अनुवाद उससे नहीं हो सकता, क्योंकि एक भाषा से दूसरी भाषा में परिवर्तन करते समय वह अपने काव्य-रस की पुट उसमें अवश्य देता है। दृष्टांत के लिए, पोप-द्वारा अनुवादित ईलियड वही चीज़ नहीं जो होमर की रचना है। अँगरेज़ी की ईलियड में कुछ और ही स्वाद है और ग्रीक के मौलिक ग्रंथ में कुछ और ही। बेचारी संस्कृत को तो इतना भी सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ कि कालिदास

के सदृश कोई योग्य कवि उनके काव्य को किसी प्रचलित भाषा में अनुवादित करता। यदि ऐसा होता भी तो उसके अनुवाद में शकुंतला, पार्वती, दिलीप और रघु इसी शताब्दी के होते; आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले के नहीं।

प्राचीन भाषाओं में लिखित काव्य आधुनिक काव्यों की समता प्रायः इसी एक कारण से नहीं कर सकते कि उनकी भाषा अब सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं है। उन काव्यों का आनंद लेने के लिए वर्षों उनकी भाषा के शुष्क व्याकरण को कोई रटे, तब कहीं उसे उनके काव्य-रस चखने की योग्यता प्राप्त हो। पर उस समय तक उस रस के स्वाद लेने की शक्ति भी कदाचित् उसमें न रहे, व्याकरण और छंदः-शास्त्र के दोषों को छोड़कर और कुछ उसे उनमें दिखाई ही न पड़े। इन काव्यों की तुलना हम उस काव्य से कैसे कर सकते हैं, जिसके वाक्य बालक अपनी माँ की गोद ही से सुनने लगते हैं, जिससे उद्धृत उदाहरण उनको डाँटने या मनाने के लिए काम में लाये जाते हैं, जिसकी शपथ की सहायता लेकर युवक-युवती प्रणय-पुष्टि करते हैं, और जिसके कथा-सरोवर में वृद्ध किसान कुटुम्ब सहित स्नान करके कृतकृत्य होते हैं?

भाषा ही के विचार से नहीं, विषय-प्रसंग के भी विचार से, प्राचीन काव्य वर्त्तमान संसार के लिए उतने उपयोगी नहीं, जितने कि प्रचलित भाषाओं में रचित काव्य हो सकते हैं। प्राचीन काल में मानुषिक सभ्यता की बाल्यावस्था थी। उस

समय के विचार सरल और शुद्ध थे; कल्पना-सृष्टि की अधिकता थी और उसका झुकाव विशेषतया मारकाट, लड़ाई-झगड़े और ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाने की ओर था, गार्हस्थ्य जीवन की शांतिमयी घटनाओं की ओर नहीं। यही कारण है जो प्राचीन काव्यों के विषय प्रायः एक ही से हैं। प्राचीन ग्रीस में पेरिस हेलन को उड़ा ले गया; ट्रोजन-युद्ध हुआ और होमर ने उसका वर्णन ईलियड में किया। भारत में रावण सीता को हर ले गया; राम ने लंका जाकर उससे युद्ध किया, विजय पाई, और वाल्मीकि ने इस कथा का वर्णन कर राम और सीता को अमर कर दिया। परंतु वर्त्तमान समय में मनुष्य का अधिकांश जीवन शांतिमय है। इसलिए उस समय के क्लेशपूर्ण विचारों से आजकल के लोगों की सहानुभूति नहीं हो सकती। सभ्यता के विकास के साथ साथ हमारे कल्पित विचारों में भी पहले की-सी तीव्रता नहीं रही। हरक्यूलीज़ की १२ कसरतों का हाल पढ़कर बच्चे चाहे जितना आनंद प्राप्त करें, उससे और लोगों का विशेष मनोरंजन नहीं हो सकता। भला बालकों और वृद्धा स्त्रियों को छोड़कर कौन मान लेगा कि रावण के दस सिर थे, वह पर्वत के सदृश ऊँचा था, और कुम्भकर्ण छः महीने नशे में चूर सोया करता था! शाहनामे के रुस्तम महाशय भी हरक्यूलीज़ से कुछ कम नहीं। अतएव उनका जीवन-चरित भी हमारे लिए विशेष काम का नहीं।

रघुवंश का पद इन सब काव्यों से ऊँचा है। उसमें अशांतिपूर्ण घटनाएँ उतनी नहीं; कल्पना-शक्ति की दौड़ भी उसमें उतनी नहीं। रस के प्रवाह और उसके आस्वादन की सामग्री का तो कहना ही क्या है! यह काव्य कालिदास की प्रौढ़ावस्था-प्राप्त कवित्व-शक्ति का फल है।

अब प्रचलित भाषाओं के काव्यों को लीजिए। मिल्टन के पैराडाइज़ लॉस्ट के विषय में मार्क पेटिसन साहब की शिकायत है कि उसको कालेज से निकलने के बाद अँगरेज़ लोग ही चाव से नहीं पढ़ते, औरों की कौन कहे। इसका कारण यह है कि पैराडाइज़ लॉस्ट का विषय मनुष्य-जीवन से कुछ संबंध नहीं रखता। उसके नायकों को नेत्रहीन मिल्टन के ज्ञानचक्षु ही देख सकते थे; उनके चरित्रों का अनुभव उसी की अपूर्व धर्मबंधन-ग्रस्त आत्मा कर सकती थी; और उसकी भाषा को वही समझ सकता है जिसने उसी की तरह ग्रीक और लैटिन साहित्य का मंथन किया हो। पैराडाइज़ लॉस्ट के सहोदर 'डिवाइन कमेटी' नामक काव्य की भी वही दशा है। वह एक अंधे, अभागे कवि का स्वप्न है। नरक के उस भयानक दृश्य को फिर भला कौन दुबारा देखने की इच्छा करेगा जिसने एक बार भी, दांते की तरह, उसे देखा हो। मेघनाद-वध काव्य इन सबसे उच्चतम है। माइकेल मधुसूदन के चरित्र जीते-जागते वीर और वीरांगनाएँ हैं, और उसके काव्य में ओज है। परंतु उसका विषय ऐसा है कि उसके चरित्र हिन्दू-

समाज के आध्यात्मिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकते।

अब रामचरितमानस को देखिए। इसकी हिंदी भारतवर्ष के अधिकांश वासियों की मातृ-भाषा है; और वह भाषा इतनी सरल है कि अपढ़ ग्रामवासी भी उसे सुनकर किसी साहित्यसेवी विद्वान् से कम आनंद नहीं उठाते। प्राचीन काल से अब तक कौन ऐसा काव्य हुआ है, जिसने इतने अधिक मनुष्य के हृदय में स्थान पाया हो और जिसने उनके जीवन पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो? अँगरेज़ समालोचकों का यह कहना बिलकुल ठीक है कि तुलसीदास से बढ़कर भारतीय समाज का सुधारक कोई नहीं हुआ। ज़रा ध्यान तो दीजिए, सतलज से सोन तक और हिमालय से विंध्याचल तक, तीन सौ वर्ष से यदि प्रायः प्रत्येक गाँव में किसी भी ग्रंथ की चर्चा रही है तो रामचरितमानस की। कोई भी ऐसा हिंदू नहीं जो अपने बालकों को राम और सीता का आदर्श न दिखलाता हो; जिसको समय-समय पर रामचरितमानस के दोहे और चौपाइयाँ याद न आ जाती हों, वह पढ़ा हो या बे-पढ़ा।

जिस समय अँगरेज़ी विचारों की धारा इस देश में ज़ोर से बह रही थी उस समय यह शंका हुई थी कि कहीं हमारे देश का यह अमूल्य रत्न उसमें डूब न जाय। विश्वविद्यालय में उसके लिए कोई स्थान न था और नव-विचार-विभूषित हृदयों में

हिंदी-साहित्य की ओर से घृणा का बीज उग रहा था। परंतु कुछ समय से वह धारा अपना प्रवाह बदलती हुई दिखाई पड़ती है। इस हिंदी-रत्न को शिक्षित-समाज अब आदर की दृष्टि से देखने लगा है। आशा है कि कुछ समय में इसके लिए उस समाज के हृदय में ऊँचा आसन भी मिल जायगा।

अच्छा, अब देखिए कि इस ग्रंथ का क्यों इतना आदर है। समय ने बहुत-से ग्रंथों का नाश कर डाला है, परंतु यह अभी तक मनुष्य-हृदय में विराजमान ही नहीं, दिन पर दिन उसमें अपना स्थायी घर बनाता हुआ देख पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण भी तो है, पर उस पर इतनी श्रद्धा नहीं। रामचरितमानस पर ही क्यों?

रामचरितमानस में एक ऐसी बात है जो संसार के किसी काव्य में नहीं। उसमें तुलसीदास ईश्वर को साधारण मनुष्य का रूप देकर उसे सांसारिक जीवन की सभी अवस्थाओं में ले गये हैं। राम आदर्श पुरुष हैं; पर अपने कार्यों के कारण नहीं, किंतु तुलसीदास की अन्यय भक्ति के कारण। उनमें वही गुण-दोष हैं जो मनुष्य-मात्र में पाये जा सकते हैं। परंतु तुलसीदास ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है कि उन्हीं दोषों के कारण रामचंद्रजी हमारे सगे हो गये हैं। यदि तुलसीदास उनमें गुण ही गुण दिखाते तो रामचरितमानस वेदांत हो जाता। तब वह इतने आदर का पात्र न रहता। तुलसीदास के रामचंद्र वाल्मीकि के रामचंद्र से बहुत कुछ भिन्न हैं। पहले

वे राजकुमार थे, अब तो वे मनुष्य-मात्र के संग ईश्वर हैं। हम उनमें अपना प्रतिबिंब देखते हैं, परंतु साथ ही साथ तुलसी हमको याद दिलाते जाते हैं कि उन्होंने हमारे और तुम्हारे ही उद्धार के लिए जन्म लिया है।

रामचरितमानस को आदि से अंत तक पढ़ जाइए और बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक आनंद लूटिए। बचपन में राम हमारे भाई हैं, कौशल्या हमारी माँ हैं, और दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं। दूर की यात्रा के लिए आज्ञा देते समय दशरथ उसी तरह दुखी होते हैं जिस तरह कोई वृद्ध पिता अपने पुत्र के दूर जाते समय दुखी होता है। आज्ञा मिलती है, और रामचंद्र चले जाते हैं। हम राम के साथ धनुर्विद्या सीखते हैं, वन-वन विचरते हैं, और यौवनावस्था प्राप्त होने पर किसी कुमारी के प्रेम-पाश में फँसते हैं। सीता के दर्शन होने पर रामचंद्र-लक्ष्मण का वार्तालाप कैसा भावपूर्ण और कैसे स्वर्गीय प्रेम का उदाहरण है! वाल्मीकि से तुलना कर देखिए। हम तो कहते हैं कि कालिदास की भी पहुँच वहाँ तक नहीं है। सीता तुलसीदास ही की नहीं, जगत् की जननी हैं। तुलसीदास रामचरितमानस की नायिका के चरण-सेवक हैं। कहिए क्या किसी और कवि ने भी अपने काव्य की नायिका को इतना उच्च पद दिया है? कालिदास शकुंतला को अपने हृदय में रखते हैं, परंतु तुलसीदास सीता के चरण-कमलों पर मस्तक रखकर जगत्पिता रामचंद्र के साथ उनके प्रणय का वर्णन करते हैं।

फिर क्यों न ऐसे वर्णन को बालक से लेकर बूढ़े तक उसी चाव से पढ़ें और प्रेमोद्रेक से उसी तरह गद्गद हो जायँ जिस तरह सबसे पहले तुलसीदास हुए थे।

परंतु गार्हस्थ्य जीवन कंटकमय है। क्या तुलसीदास इसका अनुभव न कर चुके थे? बहू को घर आये अधिक दिन न हुए थे कि वह सौतेली सास के ईर्ष्या-बाण का निशाना बनी। राम को वनवास की आज्ञा हो गई।

कौन ऐसा कठोर-हृदय होगा जो इस वर्णन को पढ़कर न पसीज उठे? न मालूम कितने संतान-शोक-संतप्त हृदयों को राम ने आकर सांत्वना दी होगी—

बरस चारि दस बिपिन बसि करि पितु-बचन प्रमान।
आय पाँय पुनि देखिहौं मन जनि करसि मलान॥

उखड़े हुए हृदय-वृक्ष में फिर आशा-पल्लव निकलने लगते हैं और जीवन के सब कार्य फिर ज्यों के त्यों चलने लगते हैं।

रामचंद्र की वन-यात्रा का अपूर्व प्राकृतिक वर्णन कविता के विचार से बहुत अच्छा है। परंतु मानसिक चित्र खींचने में बालि को छोड़कर और किसी के लिए तुलसीदास ने विशेष कष्ट नहीं उठाया।

लंकाकांड में युद्ध का वर्णन, पुराने ढंग पर, बड़ी योग्यता के साथ किया गया है; परंतु मंदोदरी के चित्र को छोड़कर और सब चित्र असंभव-से मालूम पड़ते हैं। मानसिक चित्र

खींचने में तुलसीदास ने जितनी योग्यता बालकांड और अयोध्याकांड में दिखायी है उतनी और किसी कांड में नहीं। उत्तरकांड बालकों तथा युवकों की भी समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकता। फिर ज्ञान का वर्णन भी त्यागी मनुष्यों ही के लिए है। मालूम होता है, तुलसीदास लंकाकांड समाप्त करते करते थक गये थे। इससे वह उत्तरकांड को किसी तरह घसीट ले गये हैं।

परंतु, चाहे जहाँ देखिए, तुलसीदास राम के प्रेम में मग्न हैं। सेवा करने के लिए वह कहीं निषाद हो जाते हैं और कहीं हनुमान् का अवतार ले लेते हैं।

यदि अगाध भक्ति के कहीं भी उदाहरण देखने हों तो उन दृश्यों में देखिए जहाँ तुलसीदास भक्ति की भिक्षा माँगते हैं। निषाद कहता है—

पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउर आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

हनुमान्‌जी कहते हैं—

एक मंद मैं मोहबस कीस हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहिं बिसारेहु, दीनबंधु भगवान॥

फिर वह बन्दर के रूप में सेवा के बदले क्या माँगते हैं—

नाथ भक्ति तव सब सुखदायिनि, देहु कृपा करि सो अनपायिनि।

और यदि आपको भी सेवा के बदले प्रेम-भिक्षा ही माँगनी हो तो महादेवजी सिफ़ारिश करने के लिए आ जाते हैं—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

इसी भक्ति-भाव के आधिक्य को देखकर कुछ अँगरेज़ समालोचकों ने यहाँ तक कह डाला है कि रामचरितमानस के भक्ति-भाव-विषयक उद्देश में ईसाई-मत की बहुत कुछ छाया है। इस विषय में राय देना कठिन है। समता बहुत कुछ है और इसमें कोई संदेह नहीं कि राम, यीशु, कृष्ण और बुद्ध के सदृश किसी और आत्मा ने मनुष्य के हृदय में इतनी जगह नहीं पाई है।

बुद्ध के समय से प्रेम और सच्चे गार्हस्थ्य जीवन की शिक्षा भारतवर्ष के सुधारक देते चले आ रहे हैं; परंतु जितना अधिक सुधार तुलसीदास ने किया है उतना और किसी से नहीं बन पड़ा। उनकी ललित लेखनी ने बौद्ध भिक्षुकों और पादरियों की आवश्यकता ही न रक्खी। सुनिए, सुनाइए और तदनुसार सुधार कीजिए।

इस हिंदी-साहित्य की गुदड़ी के लाल को यदि आपने अभी तक नहीं पहचाना, तो आशा है इस संक्षिप्त लेख से आपका ध्यान उधर जायगा और किसी विद्वान् के गवेषणा-पूर्ण ग्रंथ द्वारा इस अपूर्व रत्न के महत्त्व की अच्छी तरह परख होगी।

——

४—हिंदी में नाटक और अभिनय

कुछ वर्ष हुए, लखनऊ ही में नहीं, जहाँ कहीं हिंदी-भाषा बोली जाती थी, पारसी-कंपनियों और उनके 'असीरे हिर्स' और '.खूबसूरत बला' का बोल-बाला था। अब वह समय है कि लखनऊ में ही व्याकुल भारत, किर्लोस्कर और सूर-विजय कंपनियों ने सरल हिंदी में लिखे हुए नाटकों का अभिनय कर जनता को उपदेश देते हुए प्रसन्न किया है और .खूब लाभ भी उठाया है।

हमें तीनों नाट्य-कंपनियों के खेलों के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अधिक नाटक देखने का तो अवसर नहीं मिला, क्योंकि दर्शन के साथ भेंट देना ज़रूरी था—परंतु बानगियाँ अवश्य देखीं। इन्हीं के आधार पर हमें इस लेख में नाट्य-कला तथा उसके हिंदी-संसार में प्रचार करने के विषय में कुछ विचार करना है।

इन कंपनियों ने इतना तो साबित ही कर दिया कि यदि नाटककारों में कुछ भी योग्यता हो, यदि नटों को गाना आता हो, यदि परदों या पोशाकों पर काफ़ी ख़र्च किया जा सके और नाच तथा कलाबाज़ियों के लिए दो चार नट मिल सकें तो हिंदी में नाटक के अभिनय का सफल होना दुष्कर नहीं है।

यह सब कुछ है। हम चाहते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी समाज में उन्हीं की भाषा-द्वारा नाटक दिखाये जायँ! परंतु जो कुछ इन कंपनियों ने दिखाया है, उसमे हम संतुष्ट नहीं हैं। यदि हमें इस संबंध में कुछ कड़ी बातें कहनी हैं तो वे इसलिए कि ये कंपनियाँ केवल रुपया ही न कमायें। हिंदी में एक स्थायी नाट्य-साहित्य-सृष्टि करना और नाट्य-कला को उच्च श्रेणी का बनाना उतना ही आवश्यक है जितना कि रुपया कमाना।

यह हम मानते हैं कि साधारण जनता में नाट्य-कला, नाटककार के शब्दों के भाव तथा गानविद्या के गूढ़ रहस्यों के समझने की योग्यता नहीं होती। परंतु कुछ ही समय तक आप परदों और पोशाकों की भड़क के पीछे अपने नाटककार तथा नाट्य-कला के दोषों को छिपाये रख सकते हैं। काठ की हाँड़ी अधिक समय तक आग पर नहीं चढ़ी रह सकती। कोई समय था काउसजी, गौहरजान और सोराबजी इत्यादि ने पारसी-कंपनियों-द्वारा नाट्य-संसार पर उर्दू का सिक्का जमा दिया था। 'हैम्लेट' के उर्दू अनुरूप 'ख़ूने-नाहक़' के विषय में विद्वानों का मत था कि इसमें काउसजी का पार्ट हेनरी इर्विंग के पार्ट से किसी प्रकार कम न था। ऐसे ही लोगों की कमाई उर्दू-कंपनियाँ बहुत दिनों तक खाती रहीं। इनमें नाट्य-कला का ह्रास होता रहा, परंतु जनता पर उस्तादों का इतना ज्यादा जादू जम चुका था कि कुछ समय तक रद्दी कंपनियों की भी रोजी चलती रही।

उर्दू में नाट्य-कला के ह्रास का यह फल हुआ कि जनता ने हिंदी में नाटक दिखानेवाली नई कंपनियों का स्वागत किया। इसी लिए हमारा निवेदन है कि जो कुछ सफलता हुई है उसे स्थायी न समझिए। जो हाल उर्दू के नाटकों का इतने समय पश्चात् हुआ है, वही, उससे भी बुरा और बहुत शीघ्र, हिंदी के नाटकों का होनेवाला है, यदि नाट्य-कला और नाटककार दोनों एक दूसरे का साथ देकर जनता को अपने गुणों से वशीभूत न कर लेंगे*।

हमने इन कंपनियों के तमाशे देखे। कहीं परदों की विशेषता, कहीं रंग-बिरंगी रोशनी का प्रबंध, कहीं गाना अच्छा, कहीं नाचनेवालों और क़लाबाज़ों का जमाव; परंतु न तो नाटककार के शब्दों में प्रायः बल था, न नटों में। उनके उच्चारण करने में कोई विशेष योग्यता न थी। एक ही भाव है—पुरुष लड़े मरते हैं, और स्त्रियाँ रोये देती हैं। वीर-रस के व्यक्त करने में तो बिना अतिशयोक्ति इन नटों का काम ही नहीं बनता। शांतिभाव के व्यक्त करने के लिए भी चिल्लाने की आवश्यकता समझी जाती है। हास्यरस में मधुरता नहीं, करुणा में आँसू नहीं, बीभत्स में ग्लानि नहीं। गाने के लिए कोई मौक़ा भी ठीक है। राजा साहब का दरबार लगा है।

* यह लेख नवंबर सन् १९२३ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस समय हिंदी-नाटक खेलनेवाली कई संस्थाएँ काम कर रही हैं, जिनमें कलकत्ते के 'हिंदी-नाट्य-परिषद्' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

एक कठिन समस्या पर विचार करना है, परंतु गाना हो रहा है। राजा साहब को भी भरे दरबार में गाने से एतराज़ नहीं है। रानी साहबा अपनी सखियों के बीच गायें तो कुछ हर्ज नहीं। परंतु आप उन्हें इच्छानुसार राजा साहब के सामने बातचीत के अवसर पर भी गाने से नहीं रोक सकते।

हिंदी में इधर कई मौलिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके लेखकों का हिंदी-साहित्य में बहुत मान है। परंतु इनमें बहुत कम ऐसे हैं जो स्थायी साहित्य की श्रेणी में रक्खे जा सकें—जो पढ़ने और अभिनय दोनों के योग्य हों। कारण यह है कि कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों को अभिनय-योग्य बनाने के लिए उर्दू के अभिनीत नाटकों की शैली का अनुकरण किया है। फल यह हुआ है कि साहित्यिक दृष्टि से तो उनका स्थान गिर ही गया है, अभिनय की कसौटी पर भी वे सच्चे नहीं उतरते। कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं—उनकी भाषा में ओज है, उनकी शैली परिमार्जित है—परंतु अभिनय के योग्य वे भी नहीं हैं, क्योंकि उनके लेखकों को रंगमंच का बहुत कम अनुभव रहा है।

बात यह है कि अभी तक नटों के प्रति जनता के कुछ ऐसे अनुदार भाव हैं कि योग्य तथा प्रतिभाशाली पुरुष नाटक-द्वारा जीवन-निर्वाह करने में अपनी मान-हानि समझते हैं। वस्तुतः साधारण बुद्धि के, अधिकतर बिगड़े हुए लड़के,

इस व्यवसाय में प्रवेश करते हैं। इनमें से थोड़े बहुत अनुभव द्वारा नाट्य-कला में प्रवीण हो जाते हैं। परंतु नाटक-निर्माण की योग्यता के लिए साहित्य से परिचय की आवश्यकता पड़ती है। इसका प्रायः इनमें अभाव रहता है। इसलिए इस श्रेणी के नटों में से नाटककारों का निकलना दुष्कर है। शिक्षित नवयुवक-मंडलियों के शौक़िया अभिनयों द्वारा हम मध्य श्रेणी की जनता में इस व्यवसाय के विरुद्ध जो कुछ विचार हैं, उन्हें दूर कर सकते हैं। जहाँ विचार फैलाने के वक्तृता या समाचार-पत्र जैसे अन्य मार्ग हैं वहाँ एक नाटकाभिनय भी है। सच पूछिए तो इस देश में, जहाँ विद्या का इतना अभाव है, वक्तृता तथा नाटकाभिनय-द्वारा विचारों का जितना प्रचार हो सकता है उतना लेखों से नहीं हो सकता। फिर, वक्तृताओं से आप अधिकतर लोगों के विचारों ही की पुष्टि कर सकते हैं। परंतु यदि भावों की पुष्टि करना है, यदि जातीयता का आदर्श मंत्र उनके कान में फूँकना है, यदि उनके हृदय में स्त्री-जाति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनी है और यदि उन्हें सच्चे गार्हस्थ्य प्रेम तथा स्वार्थत्याग का परिणाम दिखाना है तो हमें नाटककार और नाट्य-कला का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

यह तो हुई जनता को समझाने की बात। इसका अर्थ यह नहीं है कि जब तक उसके विचारों में परिवर्तन न हो, तब तक हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक रंगमंच पर पैर न रक्खें।

हिंदी-नाट्य-साहित्य का उद्धार-कार्य जनता के विचार-परिवर्तन की बाट नहीं जोह सकता। और उद्धार की एक ही सूरत है। थोड़े दिनों की बात है कि बेकन के कुछ भक्तों ने यह साबित करना चाहा कि जिन नाटकों के निर्माता शेक्सपियर कहे जाते हैं, वे वास्तव में बेकन के लिखे हुए हैं। सब दलीलों के एक उत्तर ने उन्हें शांत कर दिया, और वह यह कि ये नाटक बेकन के नहीं हो सकते क्योंकि उनमें एक स्वाभाविकता है, जो नाटककार के बिना नाट्याभिनय की परीक्षा पास किये आ ही नहीं सकती। बिना नट बने नाटककार नहीं हो सकते। इसलिए हिंदी-प्रेमी नवयुवकों से हमारा यह निवेदन है कि यदि उनमें नाट्य-कला की ओर रुचि है, यदि वे गाना गा सकते हों, यदि उनमें कवित्व-शक्ति हो, यदि वे भावों को रंगमंच पर व्यक्त कर सकते हों, तो वे अवश्य इस व्यवसाय की ओर ध्यान दें। दफ़्र या शिक्षा-विभाग की नौकरी से इस व्यवसाय में उन्हें अधिक लाभ तो होगा ही, शायद उनमें से कुछ ऐसे प्रतिभाशाली लेखक भी निकलें, जो हिंदी में एक स्थायी नाट्य-साहित्य की सृष्टि कर सकें। क्या द्विजेंद्रलालजी ने जो देश-सेवा अपने नाटकों-द्वारा की है, वह किसी भी बड़े नेता की देश-सेवा से कम है? माना कि उनकी प्रतिभा को पाना कठिन है, तो क्या प्रयत्न करने से जैसे नाटक आजकल लिखे जाते हैं उनमें भी उन्नति नहीं हो सकती? अध्यवसाय की आवश्यकता है, प्रतिभा भी उसका साथ देगी।

नाटक कैसे हों, किन भावों का उनमें समावेश हो, क्या क्या उनमें गुण हों—इसकी विवेचना करने की जगह इस लेख में नहीं है। फिर हमें इसका अधिकार भी नहीं है। नाट्यशास्त्र के पढ़ने से ही अच्छे नाटक नहीं बन जाते। मार्ग वही है जिसे सूचित करने का साहस हमने यहाँ किया है।

——

५—सत्य-हरिश्चंद्र-नाटक

किसी ने सच कहा है कि लेखक की प्रतिभा का पता तभी चलता है जब उसकी पुस्तक के कापीराइट का समय बीत जाता है। यदि अवधि समाप्त होते ही प्रकाशक-दल दंगल में फाँद पड़े, तब तो समझिए कि लेखक चिरकाल के लिए जीवित रहा। परंतु यदि पहली आवृत्ति के बाद दूसरी का समय ही न आवे, तो समझिए कि लेखक समाज की योग्यता के बहुत कुछ ऊपर है; समाज उसके गूढ़ विचारों को समझने के लिए तैयार नहीं; या यह कि उसके विचार इतने पुराने हैं और इस ढङ्ग से प्रकट किए गए हैं कि समाज उनसे परिचय प्राप्त करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। भारतेंदु हरिश्चंद्र के ग्रंथों के कापीराइट की अवधि समाप्त हो जाने पर अभी तक नागरी-प्रचारिणी सभा ही ने दंगल में पग रक्खा है, सो भी डरते डरते। पहले-पहल उसने 'सत्यहरिश्चंद्र' का ही प्रकाशन किया है। प्रथम संस्करण की भूमिका में मंत्री महाशय लिखते हैं कि 'यदि इस पुस्तक की बिक्री अधिक हुई और भारतेंदुजी के अन्य ग्रंथों के स्वल्प मूल्य पर प्राप्त करने की सर्वसाधारण की रुचि का स्पष्ट प्रमाण मिला तो सभा भारतेंदुजी के अन्य ग्रंथ भी यथाक्रम प्रकाशित

करेगी।' आशा है, अब तक इस रुचि का स्पष्ट प्रमाण मंत्री महाशय को मिल चुका होगा*।

'सत्य-हरिश्चंद्र' भारतेंदुजी की कवित्व-शक्ति का प्रकृष्ट निदर्शन-पुंज है, क्योंकि उसके नायक प्रातःस्मरणीय रामचंद्र के पूर्वज हरिश्चंद्र और आधुनिक हिंदी-गद्य के जन्म-दाता हरिश्चंद्र के नामों और गुणों में बहुत कुछ साम्य है। कवि महाशय भी नायक में जगह-जगह अपने सत्याभिमान, काशी-प्रेम और करुणामय हृदय की झलक दिखाये बिना नहीं रहते। पहले ही से वह अपने मित्र पंडित शीतलाप्रसादजी के वाक्य को सूत्रधार के मुँह से अनुवाद करा देते हैं—

जो गुन नृप हरिचंद्र में, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद मैं लखहु प्रतच्छ सुजान॥

उपक्रम में तो भारतेंदुजी यही लिखते हैं कि पंडित बालेश्वरप्रसादजी की आज्ञा के अनुसार उन्होंने यह नाटक लड़कों ही के लिए लिखा है; परंतु भाषा और भाव इसके ऐसे गूढ़ हैं कि छोटे-छोटे लड़के इससे बहुत कम लाभ उठा सकते हैं। हम लोगों को उनके इस विचार से इतना लाभ अवश्य हुआ कि इसमें शृंगार-रस की पुट नहीं दी गई। हरिश्चंद्र-विषयक नाटकों में सबसे अधिक मान इसी का है।

* यह लेख अप्रेल सन् १९१८ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। अब भारतेंदुजी की पूर्ण ग्रंथावली प्रकाशित हो गई है।

अब यह देखना चाहिए कि किन बातों में सत्य-हरिश्चंद्र का पद इस नाम के और नाटकों से ऊँचा है। भारतेंदुजी को शायद अँगरेज़ी में शेक्सपियर के नाटकों और संस्कृत में कालिदास, भवभूति इत्यादि के नाटकों को छोड़कर और बहुत कम नाटक देखने का अवसर मिला होगा। उस समय तक बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने जन्म भी नहीं लिया था। परंतु यह प्रतीत होता है कि मानसिक भावों के सामंजस्य पर उनका इतना ज्ञान अवश्य था कि करुण और बीभत्स रस के साथ शृंगार और हास्य-रस का मेल नहीं हो सकता। करुण-रस फुलझड़ी की तरह उड़ जाय, यदि हास्य का तनिक भी अंश उसमें हो; और शृंगार से घृणा होने लगे, यदि बीभत्स-रस के साथ उसका योग हो। हरिश्चंद्र की कथा करुण-रस-पूर्ण है और नाटक भी वास्तव में ऐसा ही होना चाहिए। इसी लिए भारतेंदुजी हरिश्चंद्र के साथ विदूषक नहीं रखते कि कहीं सत्याभिमान का मज़ाक़ न उड़ जाय। साधारण नाटककार शेक्सपियर की नक़ल करने के लिए दुःखांत नाटक के नायक के साथ विदूषक रख देते हैं। परंतु 'लियर' और 'हरिश्चंद्र' की कोई समता नहीं। लियर का विदूषक तो केवल उसकी मूर्खता पर हँस-कर बुड्ढे के अभाग्य पर दर्शकों के आँसू बहाता है। यदि हरिश्चंद्र का विदूषक एक क्रोधी ब्राह्मण के नाम तमाम जायदाद दे देने पर उनकी हँसी उड़ावे तो हरिश्चंद्र का सब अभिमान

हवा हो जाय, दर्शक खिलखिला पड़ें और नाटक का आशय ही भंग हो जाय।

अधिकतर नाटक-कंपनियाँ वेश्या का नाच दिखाने के लिए शैव्या को उसी के हाथ बिकवाती हैं। परंतु भारतेंदुजी ऐसा नहीं करते। शैव्या उपाध्याय के घर पंडिताइन की सेवा करने के ही लिए बिकती है। इससे भारतेंदुजी के सामाजिक विचारों की स्वच्छता का बहुत कुछ पता चलता है।

रोहिताश्व के तक्षक से डसे जाने का दृश्य कदाचित् उन्होंने इसलिए नहीं दिखाया कि रोहिताश्व अभी बहुत छोटा है; तुतलाकर बातें करता है; अलग दृश्य में साथियों के साथ मिलकर गाना और साँप से डसे जाने पर विलाप करना उसके लिए असंभव है। या इसलिए उस दृश्य को नहीं दिखाया कि कहीं करुण-रस की मात्रा बहुत अधिक न हो जाय।

यों तो 'सत्य-हरिश्चंद्र' आद्योपांत रुचिकर है, परंतु तीसरे और चौथे अंक में विस्तार के कारण उसकी रोचकता कम हो गई है। आरंभ में नारद सत्पात्र के हाथ हरिश्चंद्र का दान देना ठीक समझते हैं, परंतु एक क्रोधी और द्वेषी ब्राह्मण की सेवा में हरिश्चंद्र का सर्वस्व अर्पण कर देना वर्त्तमान विचारों से विभूषित हृदय को अवश्य खटकता है। हाँ, यदि लेखक का यह आशय कि "निर्गुण सत्य सर्वोपरि है" सिद्ध हो जाय तो मानसिक भावों को तोड़ने-मरोड़ने में कोई हर्ज नहीं है। तीसरे अंक में कवि महाशय

ने काशी और भागीरथी की महिमा अपने नाम-राशि के मुख से कहलाई है। यह उनके काशी-प्रेम का उफान है, न कि नाटक का कोई अंश। चौथे अंक में श्मशान का लंबा वर्णन नायक से ही एकांत में कराना कुछ असंबद्ध ज्ञात होता है। यदि किसी दृश्य का वर्णन करना हो तो कोई सुननेवाला चाहिए। एकांत के विचार तो बाहरी दृश्य से अनभिज्ञ रहते हैं। मन उस समय केवल तत्कालीन विचार-संघर्ष में संलग्न रहता है। 'हैम्लेट' के एकांत समय के वाक्य देखिए। वे हरिश्चंद्र के एकांत वर्णन से कितने भिन्न हैं।

इस तुलना से हमारा अभिप्राय भारतेंदुजी की प्रतिष्ठा कम करने का नहीं है। आशय यह है कि नाटक-रचना की कठिनता का पता लग जाय। यही उनके लिए क्या कम है कि संसार के 'हैम्लेट' समान प्रसिद्ध नाटक से सत्य-हरिश्चंद्र की तुलना की जाय, और यही उस समय के देखते हुए उनकी प्रतिभाशालिनी लेखनी के लिए क्या कम है कि उन्होंने कहीं-कहीं मनोभावों के संघर्षण दिखाने का प्रयत्न तो किया! बिकने के पहले जो आवाजें नेपथ्य से आती हैं वे हृदयाकाश ही के प्रश्न हैं; और करुण-रस के प्रवाह के मध्य जिस समय हरिश्चंद्र आत्महत्या करने से रुक जाते हैं उस समय मानसिक भावों की उलझन की कुछ झलक मिलती है। ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलते। उनका कम होना ही उनके प्रकट करने की कठिनता को सूचित करता है।

अंतिम दृश्य में हरिश्चंद्र पुत्र-शोक पर बहुत विलाप करते हैं। कहा जा सकता है कि घोर दुःख की दशा में विलाप करना कठिन होता है, परंतु भारत के तप्त जल-वायु से द्रवित हृदय अपने दुःख को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। योरपीय और भारतीय कविता में यही अंतर है कि शीत-प्रधान देश होने के कारण पहली में कर्म द्वारा भाव प्रकट होते हैं, और इसके विपरीत दूसरी अर्थात् भारतीय कविता में जिह्वा भाव प्रकट करने का कार्य करती है। जो कुछ हो, भारतीय कविता के ढंग के विचार से विलाप की मात्रा का अधिक होना कोई दोष नहीं। हाँ, हरिश्चंद्र जैसे धैर्यवान् पुरुष का पुत्र-शोक होने पर भी रोना कुछ खटकता अवश्य है। परंतु याद रखना चाहिए कि 'सत्य-हरिश्चंद्र' के जन्मदाता के कोमल हृदय में इतनी जगह न थी कि वह पुत्र-शोक के सदृश अपार दुःख को चुपचाप सह लेते।

क्या उन्होंने काँपती हुई क़लम से न लिखा होगा—"कहैंगे सबै ही नीर भरि भरि, पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायगी"। प्यारे हरिश्चंद्र! तुम्हारी कहानी ही नहीं रह गई। यह क्या तुम्हारे लिए कम गौरव की बात है कि तुम्हारा लगाया हुआ हिंदी-साहित्य-वृक्ष अब फूलने-फलने भी लगा है।

——

६—द्विजेंद्र-नाटकावली

हिंदी के कुछ प्रकाशकों और अनुवादकों के अदम्य उत्साह से अब हमारे साहित्य में उच्च कोटि के अनुवादित नाटकों की कमी नहीं रही है। साहित्य के इतिहास में अनुवाद के बाद ही मौलिकता आती है, इसलिए आशा है कि इन नाटकों के पढ़े जाने और अभिनीत होने पर हिंदी-साहित्य में उच्च कोटि के मौलिक नाटक लिखे जाने लगेंगे। अब तक द्विजेंद्र बाबू के बारह बँगला-नाटक हिंदी में प्रकाशित हो चुके हैं। इस लेख में इन्हीं नाटकों की आलोचना करनी है।*

विदेशी भाषा से अनुवाद करने में जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं, वे इन नाटकों में अधिक प्रकट नहीं होतीं। इसके कई कारण हैं। एक तो द्विजेंद्र बाबू हमीं में से हैं; बंगाल हमारे ही देश का एक प्रांत है। हमारे ही देश के इतिहास को लेकर द्विजेंद्र बाबू ने अधिकतर नाटक-रचना की है। हिंदू-समाज की कुरीतियाँ, जिनका उन्होंने अपने नाटकों में दिग्दर्शन किया है, देश भर में थोड़ी बहुत सभी जगह पाई जाती हैं। जाति के अधःपतन के घाव से जैसे वे पीड़ित हैं वैसे ही प्रत्येक विचारवान्

---

* ये नाटक हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई से प्रकाशित हुए हैं।

भारतवासी दुखी है। दूसरी बात यह है कि उनके पात्र अधिकतर गद्य में बोलते हैं; और बंगाली भाषा हिंदी से बहुत-कुछ मिलती है। फिर, नाटकों के अनुवादक भी योग्य लेखक हैं। यदि कहीं दोष झलकता है तो वह 'सीता' ऐसे गीतनाट्य को गद्य में अनुवादित करने में या बँगला-गीतों का हिंदी-रूपांतर करने में। इसका कारण यह है कि पिंगल तथा हिंदी-रंगमंच के बंधन अनुवादक को इतना जकड़ देते हैं कि न तो वह अपने ही कवित्व-रस की पुट दे सकता है और न मूल के ही भावों को पूर्णतया दिखा सकता है। क्या ही अच्छा होता यदि टिप्पणी या भूमिका में एक से अधिक गीत अपने ही (मूल) स्वरूप में दिखा दिये जाते। पाठकों के सामने 'मेवाड़-पतन' ही का अंतिम गीत है—'किसेर शोक करिस भाई। आबार तोरा मानुष हे'— 'तुम शोक काहे को करो, फिर से मनुष्य सबै बनौ' इसमें चाहे आप अर्थ का वर्णन न कर सकें, क्योंकि भाषा अपनी नहीं है, पर इस कारण इसमें कुछ भाव की कमी नहीं होती। इस संबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि 'तारा' को अनुप्रास-हीन पद्य में अनुवादित करके अनुवादक ने उसकी शोभा बहुत-कुछ बढ़ा दी है। इससे कदाचित् अभिनय करने में कठिनता हो, परंतु पढ़ने में 'तारा' से बढ़कर श्रुति-मधुर नाटक इस श्रेणी में कोई नहीं है। क्या ही अच्छा होता यदि 'सीता' भी इसी प्रकार अनुवादित होती। गद्य-रूप में तो यह 'उत्तर-राम-चरित' ऐसे नाटक के सामने बिलकुल फीकी मालूम पड़ती है।

अनुवाद करने में यदि पंडित कामताप्रसादजी गुरु के विचारानुसार पात्रों की भाषा में थोड़ा-बहुत अंतर रहता तो कदाचित् रोचकता बढ़ जाती। परंतु इसमें अनुवादकों का दोष बहुत कम है। द्विजेंद्र बाबू आप ही इस भेद को बहुत कम दिखाते हैं। उनके लिए राजा से लेकर रंक तक, रानी से लेकर दासी तक, सभी कवि हैं; सभी के लिए आकाश नीला, गहरा और स्वच्छ है। जब कोई दुर्घटना होनेवाली होती है तब सभी अंधकार, बिजली और तूफ़ान से विचलित होते हैं। अनुवाद में भाषा को पात्र के योग्य बनाने का प्रयत्न केवल 'शाहजहाँ' में किया गया है। भाषा फ़ारसी-मिश्रित है और सरल है; परंतु उर्दू-भाषा से परिचित समाज को 'ख़र्च', 'लायक', 'बागी' कुछ खटकते हैं। जब 'मुहब्बत', 'कोशिश', 'वालियेमुल्क' ऐसे शब्द ठीक लिखे गये हैं तब हलक़ से निकलनेवाले शब्दों ही ने क्या अपराध किया है! ऊँचे दर्जे के मुसलमान पात्रों के मुँह से अशुद्ध उर्दू के शब्द कहलाना वैसा ही है जैसे उच्च जाति के हिंदू पात्रों से दिहाती हिंदी के शब्द कहलाना। ग्रामीण हिंदी हो और बे-मुहावरा उर्दू भी हो, परंतु पात्रापात्र का विचार करके।

इन सब बातों को मानते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी-भाषा में अभिनय करने और पढ़ने, दोनों के योग्य यदि कोई नाटकमाला है तो द्विजेंद्र बाबू की। कालिदास के समय में यवनिका को छोड़कर शायद ही और कोई परदे रहे

हैं। शेक्सपियर के समय में भी रंगमंच ने बहुत ही कम उन्नति की थी। पात्रों के लिए कोई आड़ न थी। दिन को नाटक हुआ करते थे। ओस या धूप से बचाव न था। ऐसी दशा में नाटक की सफलता के लिए बहुत कुछ कल्पना की आवश्यकता पड़ती थी। परंतु आजकल नाटक-कंपनियों ने बहुत उन्नति की है। हर तरह के दृश्य दिखलाने के लिए परदों से, और प्रत्येक घटना को दर्शाने के लिए करामातों से ऊँचे वर्ग के थियेटर सुसज्जित हैं। जितना बढ़िया सामान हो नाटककार को नाटक दिखाने में उतनी ही कठिनाई पड़ती है; रंगमंच की आवश्यकताओं को नाट्य-कल्पना से मिलाये रखने की आवश्यकता पड़ती है। शेक्सपियर के समय में 'हैम्लेट' के हत्याकांड में ख़ून नहीं बहता था; 'टेंपेस्ट' में रंगमंच पर तूफ़ान नहीं आता था; और इसी कारण शेक्सपियर का यश अभिनय के समय से नहीं, पढ़ने के समय से फैला। परंतु इस समय जो दृश्य नाटककार लिख देगा उसके दर्शाने में थियेटर के मैनेजर कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खेंगे। साधारण नाटककार रंगमंच ही का विचार करके नाटक लिखते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उस पुस्तक के छपने की नौबत बहुत कम आती है। दर्शकों की वाह-वाह ही तक उनका जीवन रहता है। रंगमंच से अनभिज्ञ कवि के नाटक में भी प्रतिभा का विकास नहीं होता, और उसके नाटक साधारणतः चिरजीवी नहीं होते। टेनीसन के नाटक कहाँ अभिनय किये जाते हैं?

द्विजद्र बाबू के नाटकों के चिरजीवी रहने में कोई संदेह नहीं मालूम होता। वे पढ़ने और अभिनय करने, दोनों में समाज को आनंदित करते हुए शिक्षा देते हैं। उनके पात्र मनोविचार की सूक्ष्म से सूक्ष्म तरंगों में जा मिलते हैं और उनके मानसिक भाव हृदय में मिलकर पुनर्जीवन प्राप्त करते रहते हैं। हैम्लेट, आथेलो और कार्डेलिया अभी तक जीवित हैं। द्विजेंद्र बाबू के पात्रों को जन्म लिये अभी बहुत समय नहीं हुआ; परंतु भविष्य की ओर देखते हुए यह विश्वास होता है कि जब तक देश में राष्ट्रीय भावना रहेगी तब तक सत्यवती, महामाया और गोविंदसिंह जीवित रहेंगे; जब तक ब्रह्मचर्य का आदर्श इस देश में जीता रहेगा, तब तक भीष्म की पूजा होगी; जब तक स्वामिभक्ति, पितृ-भक्ति और पति-प्रेम के माननेवाले इस देश में रहेंगे, तब तक क़ासिम, विजयसिंह, लीला और सीता जीवित रहेंगे। सीता के लिए तो द्विजेंद्र बाबू ने अधिक नहीं किया; उन्हें तो भवभूति और तुलसीदास ही अमर कर गये हैं। हमारे नाटककार ने उनको केवल बीसवीं सदी की साड़ी पहना दी है। नूरजहाँ, औरंगज़ेब, शाहजहाँ ऐसे ऐतिहासिक पात्र भी इतिहास में अवश्य अमर हैं, परंतु मनुष्य-हृदय में उनको जगह द्विजेंद्र बाबू ही ने दी है। जब तक प्रेम और लालसा के बीच संकट रहेगा, तब तक नूरजहाँ हृदय में प्रस्तुत रहेगी, जब तक हृष्ट-पुष्ट होकर भी मनुष्य का हृदय दुर्बल रहेगा, तब तक औरंग`ब और सिंहबाहु से सहानुभूति रखनेवाले बहुत मिलेंगे। जब तक विषयी मनुष्य

बुढ़ापे तक जीवित रहेंगे, तब तक शाहजहाँ और धीवर-राजसुता सत्यवती की हाय के साथ हाय करनेवाले भी रहेंगे।

निवेदन किया जा चुका है कि ये सब नाटक पढ़ने ही योग्य नहीं, अभिनय करने योग्य भी हैं। पाश्चात्य जातियों को हिंसात्मक दृश्यों के देखने में भले ही आनंद आता हो, किंतु भारतवर्ष में बुद्ध के समय से समाज के विचार अहिंसा ही की ओर अधिक झुकते गये हैं। द्विजेंद्र बाबू ने इस बात का बहुत विचार रक्खा है। उनके रंगमंच पर कहीं खून नहीं बरसता। तलवारें झनकती अवश्य हैं और दर्शकों को इसमें आनंद भी आता है, परंतु हत्या होने के पूर्व कोई न कोई आकर उसे अवश्य बचा लेता है। सिंहबाहु निरंतर तलवार लिये अपने पुत्र के सिर पर सवार रहते हैं। 'चंद्रगुप्त' के आरंभ में और 'मेवाड़-पतन' के अंत में दो वीरों की तलवारें खटकती हैं, परंतु वार होने के पहले सिकंदर और मानसी—एक विश्वविजयी वीर, दूसरी विश्वप्रेमिणी नारी—बीच-बचाव कर देते हैं। सोचिए तो, इनको देखकर दर्शकों के उछलते हुए हृदय को कितनी शांति पहुँचती होगी! द्विजेंद्र बाबू ने बहुत-से पात्रों को, जिनकी उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी, या जिनको अपने नाटक के अंत तक ले जाने में कठिनता समझी, गोली से अंत कर दिया। इस गोली का शब्द दर्शकों को चौकन्ना अवश्य कर देता है, पर वह खून नहीं गिराती। औरंगज़ेब के सामने दारा का कटा हुआ सिर ही आता है; दारा रंगमंच पर क़त्ल नहीं किया जाता। तथापि

अंबा रंगमंच ही पर शाल्व का ख़ून कर देती है और लीला भी दर्शकों के सामने ही अपने पेट में छुरी भोंक लेती है। यही दशा तारा की होती है; पर दरबारी, पहरेदार या पृथ्वी तुरंत ही घटना को दर्शकों की दृष्टि से छिपा देते हैं। स्टेज-मैनेजर को अपनी करामात दिखाने का अवसर यहाँ भी नहीं मिलता।

इन नाटकों में परदों की कमी नहीं है। दर्शकों को परदों की शान में द्विजेंद्रजी की कल्पना का आनंद नहीं मिलता, परंतु अभिनय के समय साधारण दर्शकों के लिए 'सिंहल-विजय' में तूफ़ान और 'पाषाणी' में कैलाशशिखर कुछ कम रोचक नहीं हैं।

द्विजेंद्र बाबू ने दर्शकों को 'स्वगत' के उच्च स्वर से बचा लिया है; परंतु इससे पात्रों की कठिनता में कुछ कमी नहीं हुई है। 'अर्ध-स्वगत' और 'अर्धपूर्ण नज़र' 'स्वगत' से कहीं कठिन हैं। सुना है कि द्विजेंद्र बाबू के ही तैयार करने पर उनके कुछ कठिन नाटक खेले जा सके थे। जो कुछ हो, इतना ज़रूरी है कि जब तक पात्रों के भावों की अच्छी परख न हो, तब तक उनको रंगमंच पर ठीक-ठीक दर्शाया जाना कठिन है। सीधी भाषा में भाव दर्शाना तो और भी कठिन है—

राणा—नहीं तो और क्या करेंगे ? चुपचाप सहन न करेंगे तो रो लेंगे। देखो, भोजन बना कि नहीं ? डर की कोई बात नहीं है। अब की बार सर्वस्व नष्ट हो जायगा। जिस जाति में इतनी क्षुद्रता

हो उसकी रक्षा स्वयं परमेश्वर नहीं कर सकते; मनुष्य की तो बात ही क्या है।

रानी के सामने राणा रो नहीं सकते। उनके चेहरे पर सूखी मुस्कराहट है, परंतु हृदय में निराशा का समुद्र उमड़ रहा है। रानी गृहिणी हैं, राजनीति नहीं समझतीं, इसलिए उनसे यही पूछा गया कि 'भोजन बना कि नहीं।'

इतिहास में संग का बड़ा नाम है, परंतु नाटककार ने उसकी कुछ ही झलक दिखाई है। इतने ही से वह द्विजेंद्र के कठिन पात्रों में गिनने योग्य हो गया है—

संग—(तारा का हाथ पकड़कर) तारा !

तारा—क्या मोहित ! कहो।

यह क्या ! यह क्यों सहसा भर आया गला !

संग—(हाथ छोड़कर) क्षमा करो। कल दूर देश को जा रहा हूँ मैं, तारा।

तारा—यह क्या ? जाओगे कहाँ ?

—बहुत दूर ?

संग—मालूम नहीं—जिस ओर को चल दूँ।

तारा—क्यों ? किसलिए ! कहो तो।

संग—"किसलिए"—

तारा तुम हो सुखी। न पूछो "किसलिए ?"

यह सब कोई कविता नहीं है, बहुत ही सीधे-सादे शब्द हैं,

परंतु इनके भीतर बहुत गहरा भाव है, जिनका दर्शाना बहुत कठिन है। संग देश से निकाला हुआ है; तारा का नौकर है, पर वह प्रेम के प्रवाह को नहीं रोक सका। इसलिए उसने सहसा तारा का हाथ पकड़ लिया; परंतु निराशा ने फिर गला धर दबाया। "क्षमा करो"—कविता के लिए गले में ताक़त नहीं है। गंभीरता और धैर्य ऊपर है, परंतु हृदय जल रहा है।

नूरजहाँ की आंतरिक उद्विग्नता के प्रकट करने का ढंग देखिए—

शेर०—मेहर,—बहुत अच्छी ख़बर है।

नूर०—क्या स्वामी ?

शेर०—सम्राट् जहाँगीर ने मुझे पाँच हजारी का पद देकर आगरे में बुला भेजा है।

नूर०—सर्वनाश !

शेर०—यह क्या कहती हो ! यह तो हमारे लिए बड़े सम्मान की बात है ?

नूर०—जाओगे ?

शेर०—जाऊँगा क्यों नहीं !

नूर०—मैं कहती हूँ, मत जाना।—ख़बरदार !

शेर०—इतनी उत्तेजित क्यों हो रही हो ? यह तो बड़े आनंद की बात है।

नूर०—बात सुनो—कहती हूँ, मत जाओ—सावधान।

(तेज़ी से ज़ाना)

ऊपर से पति-प्रेम, भीतर आत्म-गौरव और लालसा के पूर्ण होने की आशा! इसी लिए इतनी उत्तेजना है।

द्विजेंद्र बाबू के हाथ में औरंगज़ेब उतना बुरा नहीं है जितना कि इतिहासकारों ने उसको दर्शाया है :—

औरंग०—आज ही!

शायस्ता०—(मृत्युदंड का आज्ञापत्र औरंगज़ेब के हाथ से लेकर) जितनी जल्दी बला टले उतना ही अच्छा।

जिहन०—बंदगी, जहाँपनाह।

औरंग०—ठहरो देखूँ। (दंड की आज्ञा को लेना, पढ़ना और फेर देना) अच्छा, जाओ। (जिहनख़ाँ जाना चाहता है; औरंगज़ेब फिर उसे बुला लेता है।)

औरंग०—ठहरो—दंड की आज्ञा को फेर लेना और फिर फेर देना) अच्छा, जाओ। (जिहनख़ाँ का प्रस्थान)

(औरंगज़ेब जिहनख़ाँ की ओर बढ़ता है, फिर लौटकर सोचता है।)

औरंग०—ना, ज़रूरत नहीं है!—जिहनख़ाँ! जिहनख़ाँ! नहीं, चला गया।—शायस्ताख़ाँ!

शायस्ता०—ख़ुदावंद!

औरंग०—मैंने यह क्या किया!

शायस्ता०—जहाँपनाह ने समझदारों का ही काम किया।

औरंग०—ख़ैर, जाने दो।

भाई से प्रेम है; परंतु दृढ़ नहीं, क्योंकि हृदय दुर्बल है; और इसी लिए वह कभी शायस्ताख़ाँ और कभी गुलनार की चाल में आ जाता है। रंगमंच पर रुकते हुए शब्द ही मनोवेग की गति सूचित करते हैं।

द्विजेंद्र बाबू के नाटकों में विदूषक के लिए तो कोई ख़ास जगह नहीं है, पर हँसी से एकदम विरोध भी नहीं है। विचार-मग्न पात्र कम हँसते हैं और हलके हृदय के पुरुष और स्त्री ख़ूब हँसते हैं; परंतु इन नाटकों में हास्यपूर्ण कोई भी नहीं है। हास्य की रोशनी केवल दुःख के अंधकार को दर्शाने के लिए कहीं कहीं दिखाई देती है। इनके पुरुष-पात्रों में नीचता और जाति-विद्रोह के लिए अधिकतर व्यंग ही का दंड ठीक समझा गया है।

हिदायतहुसैन शेख़ी बघारना ख़ूब जानता है; परंतु हृदय का कच्चा है। सगरसिंह मुग़ल-सम्राट् की शरण में रहते बूढ़े हो गये हैं; वह अपनी कमज़ोरी का हाल आप ही बतलाते हैं। उन्हें यह ख़बर नहीं कि वाल्मीकि कौन थे—"महर्षि वाल्मीकि कौन? तुलसीदास के लड़के?" श्यामसिंह जाति-विद्रोही हैं, पर केवल क़ासिम की स्वामिसेवा को दर्शाने के लिए। दिलदार विदूषक बना हुआ है, पर उसकी बात में हँसी नहीं आती। औरंगज़ेब उसको पहचान जाते हैं—"तुम कौन हो, ठीक बतलाओ, तुम तो कोई मसख़रे नहीं हो।" हँसी केवल मुराद की मूर्खता पर आती है। 'चंद्रगुप्त' में नंद के सालों ही

पर हँसी की बौछार है। 'तारा' में पाभूराव की दुर्गति उसके दर्बारी ही करते हैं। 'भारत-रमणी' में उपेंद्र के भक्त ही अपने गुरु की नीचता दर्शाते हैं। 'पाषाणी' में विश्वामित्र के घमंड की खबर चिरंजीव ही लेता है।

स्त्री-चरित्र को जितना अच्छा द्विजेंद्र बाबू अंकित कर सके हैं, कदाचित् कोई नाटककार अभी तक नहीं कर सका। उन्हें भारतीय स्त्री-जाति पर कुछ विशेष श्रद्धा थी। वह अपने गार्हस्थ्य-जीवन में उसका अनुभव कर चुके थे; इसी लिए उनके स्त्री-पात्रों में घृणित कोई नहीं है। गुलनार और सिंहबाहु की रानी तक से घृणा उत्पन्न नहीं होती। स्त्री का शरीर कमज़ोर है, परंतु उसके हृदय में असीम बल है। जब वह उग्र रूप धारण करता है, संसार हिल जाता है। बड़े-बड़े अभिमानी वीर उसकी उँगली पर नाचने लगते हैं। उस समय उनमें हँसी का नाम भी नहीं रहता। पतित अहल्या के लिए भी घृणा-सूचक कोई शब्द नहीं है, और अंत में द्विजेंद्र बाबू उसका भी उद्धार कर देते हैं। जब तक उसका हृदय किसी विशेष कामना से विचलित नहीं होता, उसके दिव्य रूप पर मुसकराहट ही झलका करती है। 'भीष्म' में अंबिका और अंबालिका हँसती ही रहती हैं। उनके हृदय हलके हैं; उन्हें वैधव्य भी नहीं सताता। शुजा पर मुसीबतों का बोझ लदा हुआ है, परंतु पियारा को गाना ही सूझता है! "सूबा छीन लिया जायगा! यही न? जाने दो। अब और तो कुछ कहने

को नहीं है; अब मैं गाना गाऊँ ?" 'सिंहल-विजय' में लीला पर बड़ी-बड़ी विपदाएँ पड़ती हैं; परंतु वह हँसती ही रहती है, क्योंकि उसके हृदय में प्रेम को छोड़ कोई और वासना नहीं है। इसी लिए उसके हृदय में शांति है और चेहरे पर हँसी है। "मेरे जले हुए चमड़े को देखकर वे हट गये; चलो अच्छा ही हुआ। मेरे प्रेम का मोह दूर हो गया। अग्नि-परीक्षा में मलिनता जल गई।" माधुरी भी पति-प्रेम में मग्न रहती है, चिरंजीव उसको चाहे जितना पीटे।

कहीं कहीं स्त्रियों का भोलापन आनेवाली घटनाओं को और भी अधिक हृदयद्रावक बना देता है। मेवाड़ की रानी सरल गृहिणी है; उसको मेवाड़ के ऊपर आनेवाली विपदाओं का ज्ञान नहीं। सरस्वती की सास एक भोली-भाली माँ है। उसको यह नहीं मालूम कि चाँद ऐसी बहू का रूप लड़के से उसको छुड़ा देगा। 'भारत-रमणी' में कामिनी बेचारी एक पुराने ख़याल की, समाज के बंधनों से जकड़ी हुई गृहिणी है। उसे सुशीला की बातें कुछ समझ ही नहीं पड़तीं। वह चोरी के इलज़ाम को भी चुपचाप सहन कर लेती है।

इस नाटकावली में कोई फैल्स्टाफ़् (गृह-शूर) नहीं है, परंतु 'हैम्लेट' 'आथेलो' 'मैकबेथ' या 'लियर' की टक्कर के करुणा-जनक पात्रों की कमी नहीं है। इन नाटकों में करुण-रस की प्रधानता के कई कारण हैं। प्रहसन यौवन का स्वप्न है। मनुष्य-जीवन की प्रौढ़ता तथा वृद्धावस्था अधिकतर

दुःखमय है। शेक्सपियर के प्रहसन भी जवानी के हैं, और दुःखांत नाटक प्रौढ़ावस्था के। दूसरे, जिस देश में हमारे नाटककार ने जन्म लिया है, उसकी अवस्था बहुत हीन है। समाज सैकड़ों रोगों से ग्रस्त है; और इतिहास भी हमारे पतन ही का है, उन्नति का नहीं। द्विजेंद्र बाबू की लेखनी पर उस जातीयता की पश्चिमी वायु का अवश्य असर पड़ा है, जो मेकाले के प्रस्ताव के साथ जन्म लेकर अब सारे भारतवर्ष में व्याप रही है। इस कारण उनके उन्हीं पात्रों में जीवन अधिक है, जो उनकी जातीयता के भाव को प्रकट करते हैं। राणा अमरसिंह, महाबतख़ाँ, सत्यवती, महामाया, हेलन, केदारनाथ, ये सब अपने-अपने रूप में समय-समय पर देश-प्रेम, जाति-प्रेम प्रकट करते हैं। एक बात और भी है। द्विजेंद्र बाबू को अपने गार्हस्थ्य-जीवन में पत्नी-वियोग का एक बड़ा भारी दुःख उठाना पड़ा। इस घटना ने इनकी स्त्री-परंपरा को विशेषतः दिव्य बना दिया है। लीला, अंबा, महामाया, नूरजहाँ, लैला, जहाँआरा, हेलन, मानसी, मुन्नी, सुशीला, कुवेणी, अहल्या—ऐसे चित्र किसी दूसरे नाटककार की क़लम से नहीं निकले हैं। तारा से डेस्डिमोना की कोई समता नहीं। लीला बालक-वेष धारण करने पर भी रोज़ेलिंड से कहीं बढ़कर है। हेलन और मानसी के विश्वप्रेम से शेक्सपियर स्वयं अनभिज्ञ थे। अंबा, नूरजहाँ, कुवेणी और सुशीला के आत्मिक बल की बराबरी लेडी मैकबेथ ही कर सकती है।

इन नाटकों में करुणा और हास्यरस दोनों विद्यमान हैं, और करुणा की मात्रा हास्य से अधिक है, परंतु 'तारा' और 'सीता' को छोड़कर और किसी का अंत हृदय-द्रावक नहीं होता। 'तारा' के अंत में अंधकार ही अंधकार है। 'हैम्लेट', 'लियर' और 'आथेलो' के भयंकर दृश्य आँखों के सामने फिर जाते हैं। 'सीता' के अंत का इससे अधिक हृदय-द्रावक दृश्य पहले ही से हृदय में अंकित है। और सब नाटकों के अंत में दर्शकों को शांति की झलक मिल जाती है, तथा निद्रा भंग नहीं होती। 'भीष्म' का अंत शांतिमय है और उसको कृष्ण दिव्य भी बना देते हैं। 'दुर्गादास' के अंत में नाटक के सब आदर्श इकट्ठे हो जाते हैं। 'सिंहल-विजय' बहुत अधिक हृदय-द्रावक है, परंतु उसके अंत में भी बौद्ध-धर्म के प्रचार का भार लेकर विजयसिंह दर्शकों के भार को हलका कर देते हैं। 'पाषाणी' में गौतम अहल्या को क्षमा कर देते हैं; परंतु इससे भी द्विजेंद्रजी को शांति नहीं मिलती; वह फिर उसको रामचंद्रजी से शुद्ध कराते हैं। यदि 'उस पार' गार्हस्थ्य-जीवन को प्रलय में लीन कर देता है, तो 'मेवाड़-पतन' भारतवर्ष की स्वाधीनता के इतिहास का अंतिम अध्याय है। इस प्रकार इन दोनों का विषय निराशा-पूर्ण है, परंतु देश-पतन के बाद मानसी हमको आशा की झलक दिखा देती है; और भाई-भाई—अमरसिंह और महाबत, हिंदू और मुसलमान—फिर गले मिलते हैं; देश

की आशा भी इसी में है। 'चंद्रगुप्त' के अंत में छाया और हेलन के मिलन में पूर्वीय और पश्चिमीय सभ्यता के संयोग का दृश्य है। नूरजहाँ का पतन होने पर भी वह लैला से मिलती है। बाहर मेघगर्जन अवश्य है, पर इन माँ-बेटी के हृदय में शांति है। शाहजहाँ का पुत्र-प्रेम और इतिहास की आवश्यकता, दोनों मिलकर औरंगजेब को भी अपने पिता से आशीर्वाद दिला देते हैं। इतिहास के बंधन ने 'शाहजहाँ' में बहुत जगह त्रुटियाँ डाल दी हैं, परंतु ऐसे तूफ़ान के बाद इतनी जल्दी शाहजहाँ को पानी पानी कर देना द्विजेंद्रजी ही का काम था। सामाजिक नाटकों में भी वैराग्य और शांति का मिलन है। 'उस पार' में भगवानदास और मुन्नी के अंतिम मिलन में प्रथम मिलन की लालसा के बदले उदासीनता और वैराग्य के ही भाव अधिक हैं। 'भारतरमणी' में उपेंद्र का उद्धार किया गया है, परंतु यदि इन सामाजिक नाटकों के अंत में किसी तरह कुछ भविष्य की आशा का चित्र भी अंकित किया जाता, तो हृदय को अधिक सांत्वना मिलती।

जीवन में सुख के साथ दुःख का संबंध है। यदि नाटक उसका अच्छा चित्र है, तो उसमें भी दोनों भावों का सम्मिश्रण रहना चाहिए। प्रस्तुत नाटकों को आप यूनानी नाटकों की तरह या शेक्सपियर के कुछ नाटकों के समान ट्रैजिडी (Tragedy) अर्थात् वियोगांत और कमेडी (Comedy) अर्थात् संयोगांत श्रेणियों में विभक्त नहीं कर सकते। कहानी के आधार

के हिसाब से इनको सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में विभक्त किया गया है। 'पाषाणी', 'सीता' और 'भीष्म' पौराणिक नाटकों की श्रेणी में हैं, क्योंकि अहल्या का उल्लेख रामचरितमानस में भी है। सीता की अंतिम कथा वाल्मीकीय रामायण तथा उत्तर-रामचरित से ली गई है; और भीष्म महाभारत की कथा के प्रधान पात्र हैं। परंतु ये नाटक कथा के बंधन से नहीं बँधे हैं। अहल्या को पतित करने पर भी इंद्र साफ़ बचा दिये जाते हैं। 'सीता' में राम के चरित्र को रामायण के उच्च पद से गिरा दिया है। केवल भीष्म का चरित्र कथानुसार अंकित किया गया है। 'उस पार' और 'भारतरमणी' सामाजिक नाटक हैं। इनको यह पदवी इसलिए दी गई है कि इनमें हिंदू-समाज की प्रचलित कुरीतियों का दिग्दर्शन गार्हस्थ्य-जीवन के पतन-द्वारा कराया गया है। इनकी कथा के लिए कोई पुस्तक देखने की आवश्यकता नहीं है। घर-घर इनका अभिनय हो रहा है।

द्विजेंद्रलाल के अधिकतर नाटक ऐतिहासिक हैं, क्योंकि इनकी कथा प्राचीन हिंदू-इतिहास और मध्यकालीन मुग़ल तथा राजपूत-इतिहासों से ली गई है। 'चंद्रगुप्त' और 'सिंहल-विजय' में इतिहास का तो एक बहाना ही है; उनमें अधिकतर कल्पना का समावेश है। 'तारा', 'मेवाड़पतन' और 'दुर्गादास' के लिए नाटककार को सामग्री ही अच्छी मिली है। सच पूछिए तो भारतीय नाटक तथा काव्यसाहित्य के आधार तीन

ही पुस्तकें हैं—रामायण, महाभारत और टाड का राजस्थान। 'तारा' राजपूताने के उत्थान, 'मेवाड़पतन' उसके पतन और 'दुर्गादास' उसके उद्धार के सूचक हैं। राजस्थान में इनकी कहानी ही कम रोचक नहीं है; पर नाटककार ने भी अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' मुग़ल-इतिहास के बंधनों से जकड़े हुए हैं; तो भी जहाँ कल्पना को अवसर मिला है, वहाँ वह बंधनों से भाग निकली है। लैला और पियारा द्विज बाबू ही के हैं, इतिहास के नहीं। औरंगज़ेब के चित्र ने भी इतिहास को बहुत कुछ धोखा दे दिया है।

परंतु क्या इन नाटकों को कथानुसार ही विभक्त करना ठीक होगा? क्या इनको विषयानुसार वा विचार-धारानुसार श्रेणीबद्ध नहीं कर सकते? सबमें प्रेम का प्रवाह आदि से अंत तक है। कहीं वह दूसरी [illegible] से टक्कर खाकर उबल पड़ता है और महाविप्लव कर देता है, जैसे 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' में; कहीं वह शांतिपूर्वक उमंगें लेता हुआ यवनिका में लीन हो जाता है, जैसे 'मानसी', 'विजयसिंह' या 'तारा' में; परंतु वह जाति और गृह—दो धाराओं में बहता है। जाति-सेवा और पत्नी-प्रेम—ये ही दो द्विजेंद्र बाबू के आंतरिक जीवन के प्रधान अंग थे। वे एक दूसरे से न जीवन में अलग थे, न नाटकों में ही हैं; परंतु यह मानना पड़ेगा कि कहीं एक प्रधान है, और कहीं दूसरा। यदि इस

प्रकार श्रेणीबद्ध करने का साहस किया जाय तो 'मेवाड़-पतन', 'दुर्गादास', 'चंद्रगुप्त', 'भीष्म' और 'तारा' जातीय नाटक हैं; 'सीता', 'पाषाणी', 'उस पार', 'सिंहल-विजय', 'नूरजहाँ', 'शाहजहाँ' और 'भारत-रमणी' गार्हस्थ्य नाटक हैं।

निवेदन यह है कि नाटक की परख प्रधान पात्र और उनसे मिले हुए कथा के स्रोत को ढूँढ़ निकालने से होती है। उसी स्रोत से अन्य पात्रों को अपना-अपना रूप-रस मिलता है, और उनका भाग्य प्रधान पात्र के भाग्य के साथ बदलता रहता है। 'मेवाड़-पतन' और 'दुर्गादास' के विषय में तो अधिक संदेह नहीं है। कथा का स्रोत मुग़ल और राजपूत के विद्रोह से बहता है। अमरसिंह और महाबतख़ाँ उस विद्रोह के नेता हैं, और विश्वप्रेमिणी मानसी उनकी समालोचक है। 'दुर्गादास' बहुत ही सरल है। दुर्गादास और महामाया उसके प्रधान पात्र हैं; और राजपूत-जाति का उद्धार कथा का प्रधान उद्देश है। 'चंद्रगुप्त', 'तारा' और 'भीष्म' के विषय में कुछ अधिक विचार करने की आवश्यकता है। 'भीष्म' के प्रधान पात्र बिल्कुल स्पष्ट हैं। यह रचना मानों नाटकरूप में भीष्म-चरित है। इसकी प्रधान घटना भीष्म-प्रतिज्ञा है। यह प्रतिज्ञा पिता को प्रसन्न करने के लिए ही भीष्म ने की है। परंतु ब्रह्मचर्य के प्रण के पश्चात् अंबा की प्रेमभिक्षा का तिरस्कार करके ही वह अपने को गार्हस्थ्य-जीवन से मुक्त कर लेते हैं। उनका उद्देश्य आदि से अंत तक एक राजा की लालसा से उत्पन्न

अशक्त संतान के राज्य को अपने कठिन व्रत से सँभालना ही है। यदि ध्यान से देखा जाय तो भीष्म महाभारत के राजनीतिक पात्र हैं। गार्हस्थ्य-प्रेम का उनमें लेश भी नहीं।

'चंद्रगुप्त' के प्रधान पात्र चाणक्य और हेलेन हैं। चाणक्य का उद्देश नंद-वंश को नाश कर, चंद्रगुप्त के छत्र के नीचे, देश को संगठित करना है। वह प्रधानतः राजनीतिक ही पुरुष है; यद्यपि कभी-कभी गार्हस्थ्य-जीवन के सुख-स्वप्न की लहर आकर उसके शून्य हृदय को विचलित कर देती है। हेलेन मानसी की सगी बहन है। उसका विवाह चंद्रगुप्त के साथ एक गार्हस्थ्य-घटना नहीं है। यह विश्वप्रेम के लिए एक बलिदान है। इस विवाह में उत्सव मनानेवाले साधारण गृहस्थ नहीं हैं। यहाँ हिरोडोटस और व्यास, सुक़रात और बुद्ध, एकिलिस और भीष्म, पैंथियन और पुराण एक हो गये हैं। इस विवाह से पूर्व और पश्चिम, स्वर्ग और मर्त्य, इहकाल और परकाल, एक दूसरे में लीन हो गये हैं। और इस विवाह का अभिनय लेखक की ओर से कालिदास और शेक्सपियर इस शताब्दी में कर रहे हैं। देश के गौरवकाल में जो विश्वप्रेम हेलेन के विवाह के साथ अंकुरित हुआ है, उसका हमारे जातीय अधःपतन के साथ 'मानसी' में पूर्ण विकास होता है।

'तारा' के मुख्य पात्र पृथ्वीराज और तारा हैं। एक दूसरे से मिलन, प्रेम का उद्गार, विवाह, भ्रम और अंत में एक का

अपने बहनोई के हाथ मरना और दूसरी का सती होना—ये सब गार्हस्थ्य-जीवन की ही घटनाएँ मालूम होती हैं। परंतु उनके नीचे जातीय प्रेम की एक तीव्र धारा बह रही है। तारा जयमल को लौटा देती है। इधर जयमल तारा को कुछ और समझे हुए था, इसलिए शूरतान के हाथ उसको प्राणदंड मिलता है। पृथ्वीराज ही टोड़ा के उद्धार से अनुज की विफल प्रतिज्ञा पूर्ण करता है, और तारा को वरता है। तारा पृथ्वीराज ही से गार्हस्थ्य-प्रेम सीखती है। तारा देश के लिए अर्पण हो चुकी थी; पृथ्वीराज के शव पर तो अन्त में अर्पण हुई।

जिन नाटकों को गार्हस्थ्य-प्रेम-प्रदर्शक श्रेणी में रक्खा गया है, उनमें 'सीता' के विषय में अधिक नहीं कहना है। द्विजेंद्र बाबू भवभूति की क़लम लेकर अपनी प्रतिभा दिखा नहीं पाये, या अनुवाद ठीक तरह नहीं हुआ। गार्हस्थ्य-प्रेम की स्वर्गीय धारा के साथ प्राचीन सामाजिक कुरीतियों की पुट देना कुछ शोभाजनक नहीं है; राम के गले उनको मढ़ना और भी अधिक पीड़ाजनक है। मुँह से दुर्मुख के प्रति दुर्वचन कहलाना, और हाथ से शूद्रक का सिर कटाना—इन दोनों कर्मों से 'सीता' के राम इतने अशुद्ध हो गये हैं कि हम उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर नहीं लगा सकते।

'पाषाणी' के पात्र अहल्या और इंद्र हैं। लालसा के वश पतित होना और क्षमा-द्वारा पतित का उद्धार कराना, इस

नाटक का उद्देश है। बे-जोड़ विवाह से गार्हस्थ्य-जीवन को कैसी गहरी चोट पहुँचती है! द्विजेंद्र बाबू ने अपनी लेखनी की शक्ति से, दर्शकों को शब्दों की झड़ी का भुलावा देकर, इन पतितों को क्षमा करा दिया है: परंतु इतनी क्षमा मनुष्य-शक्ति के बाहर है।

'उस पार' और 'भारतरमणी' बंगाल की वर्त्तमान सामाजिक दशा का दिग्दर्शन कराते हैं और उनके पात्र भी उसी समाज के हैं।

'उस पार' के मुख्य पात्र भोलानाथ, भगवानदास और मुन्नी हैं। भोलानाथ का सरल पौत्री-प्रेम भगवानदास की रूप-लालसा और मुन्नी का अपूर्व नैसर्गिक प्रेम—इन्हीं के संगठन से नाटक का जन्म हुआ है। सामाजिक नाटक एक ही देश-काल के लिए होते हैं। इनका अनुवाद होने से या सामाजिक जीवन में परिवर्तन हो जाने से इनमें उतना बल नहीं रहता। 'उस पार' कुछ हद तक ऐसा ही नाटक है। बंगाल में उसका बड़ा आदर है, परंतु हिंदी-भाषा में मूलनाटक का परिवर्तन होने पर भी, वह उतना ग्राह्य नहीं है जितना बंगाल में। भोलानाथ को लीजिए। आप अपनी पौत्री को प्रेम करना सिखाते हैं। जैसी बातें हमारे समाज में नई बहू की ननदें या भावजें किया करती हैं, वैसी बातें बूढ़े भोलानाथ के मुँह से हमारे हिंदी-रंगमंच पर तो शोभा न देंगी।

स्वयं द्विजेंद्र बाबू को छोड़ भोलानाथ की सरलता किस मनुष्य के हृदय में पाई जाती है? वह बंगाली 'आथेलो' है, और गौरीनाथ उसका 'यागो' है। उसकी समझ ही में नहीं आता कि मनुष्य इतना नीच हो सकता है, जितना गौरीनाथ है। उसने कभी सोचा ही नहीं कि सरस्वती को छोड़ भगवानदास कभी किसी पर-स्त्री से भी प्रेम कर सकता है। बूढ़े का विश्वास टूटने के साथ ही गार्हस्थ्य-जीवन का विप्लव है। जगह-जगह भोलानाथ का चरित्र हृदय को पीड़ा पहुँचाता है। 'मेरा सर्वस्व ले लो, परंतु मुझे प्यार करो'—इस पीड़ा को पहुँचाना ही इस नाटक का उद्देश है।

'उस पार' में गार्हस्थ्य-जीवन के टुकड़े-टुकड़े उसके पात्र ही करते हैं; परंतु 'भारतरमणी' की दुःख-कथा के लिए समाज की एक विशेष कुप्रथा ही उत्तरदायिनी है। यह कुप्रथा हिंदू-समाज भर में व्याप्त है, परंतु बंगाल में इसका प्रचार बहुत अधिक है। सामाजिक प्रश्नों पर इसके पात्रों-द्वारा नाटककार ने अपने बड़े गंभीर विचार प्रकट किये हैं, और इसी लिए यदि कोई भी नाटक सामाजिक कहा जा सकता है, तो वह यही है। यदि नाटक के पात्रों की ही ओर देखा जाय तो समाज के अत्याचार से गार्हस्थ्य-जीवन ही नष्ट होता है। देवेंद्र की एक लड़की को वैधव्य का रोना है। दूसरी ओषधि के न पहुँ-चने से असमय ही माँ की गोद सूनी करके चल देती है। तीसरी न पढ़ी-लिखी होने के कारण समाज की कुरीतियों

के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया है; वह ब्याह ही न करेगी और द्विजेंद्र बाबू उसकी सहायता के लिए भी तैयार हैं। चौथा पुत्र कुसंगति में पड़कर जेल की हवा खाता है। ऐसी दशा में पिता क्यों न पागल हो जाय और माता क्यों न घर से भाग निकले? 'भारतरमणी' नाट्य-कला के विचार से प्रतिभाशाली न होने पर भी नाटककार के सब नाटकों से अधिक उपयोगी है। जो काम सामाजिक कानफ्रेंसों के प्रस्ताव नहीं कर सकते, वह इस नाटक के अभिनय से हो सकता है।

'सिंहलविजय', 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में रक्खे गये हैं। 'सिंहलविजय' का बीज इतिहास में अवश्य है, परन्तु चरित्र-चित्रण में नाटककार ने पूर्ण स्वतंत्रता ली है। इसी लिए यह नाटक 'शाहजहाँ' और 'नूरजहाँ' से अधिक पूर्ण है, यद्यपि बंगाली समालोचकों ने 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' ही के प्रति विशेष भक्ति दिखाई है। इस नाटक के प्रधान पात्र विजयसिंह और कुवेणी हैं। उन्हीं के चरित्र के चारों ओर बंगाल और सिंहल की घटनाएँ घूमती हैं, और उन्हीं के मिलन तथा विच्छेद से नाटक के परदे बदलते हैं। सौत के पितृ-भक्त पुत्र के साथ दुर्बल-हृदय पिता का बर्ताव ही इस नाटक की कथा का केंद्र है। पात्रों के नाम राजसी हैं, नाटक का नाम 'राजनैतिक' है, परन्तु घटनाएँ एक साधारण गृहस्थ ही के घर की हैं।

'सिंहलविजय' और 'नूरजहाँ' तथा 'शाहजहाँ' में अंतर

यह है कि एक में तो मानुषिक हृदय की प्रत्येक कामना का निष्कंटक उद्गार दिखाया गया है; और दूसरे में एक कामना का दूसरी कामना से युद्ध दिखाने का प्रयत्न किया है। द्विजेंद्र बाबू ऐसे सरल-हृदय नाटककार ने एक को तो बिना विशेष प्रयत्न के अपूर्व रूप दे दिया है, परंतु दूसरा काम बहुत कठिन है। विशेष प्रयत्न करने पर भी चित्र त्रुटिमय है, और यदि बहुत कहा जाय तो यह मान सकते हैं कि शेक्सपियर की ख़ूब नक़ल की गई है।

लीला, सिंहबाहु, विजयसिंह, कुवेणी और सूरमा के चित्रों की ओर देखिए। एक एक चरित्र में एक ही कामना का उद्गार है। अपने अंधे न्याय-प्रेम के कारण सिंहबाहु का पतन होता है। विजयसिंह अपने पितृ-प्रेम के कारण निर्वासित किये जाते हैं। लीला अपने पति-प्रेम में मग्न है; उसका प्रेम स्वच्छ है; वह प्रत्युपकार नहीं चाहती। कुवेणी लालसा के तूफ़ान में लीन हो जाती है। सूरमा गार्हस्थ्य-संगठन में विच्छेद होने देना पसंद नहीं करती; परंतु वासनाओं का रोकना अबला कन्या की शक्ति के बाहर है। नाटक का अंत सिंहबाहु की मृत्यु से होता है; परंतु परदा गिरने के पहले हमको आश्वासन मिल जाता है कि सिंहल का उद्धार करने के लिए विजयसिंह ही इस तूफ़ान से बचे हैं।

'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' में कथा के इतिहास की शृंखला से बँधे होने पर भी कवि ने मनोविकार के

पारस्परिक युद्ध को दिखाने का प्रयत्न किया है। ये नाटक उद्देश-हीन हैं। कहा जाता है कि 'शाहजहाँ' का जितना आदर बँगला-रंगमंच पर हुआ उतना द्विजेंद्र बाबू के और किसी नाटक का नहीं हुआ। द्विजेंद्र बाबू ने 'नूरजहाँ' की विशेषताओं को स्वयं नाटक की भूमिका में लिखा है। धुरंधर विद्वानों की राय में राय मिलाना सहज है; परंतु अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करना भी लेखक का कर्तव्य है, पाठक उससे सहमत हों या न हों। 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' द्विजेंद्र बाबू के श्रेष्ठ नाटकों में हैं, परंतु सब बातों का ध्यान रखते हुए यह कहना कठिन है कि 'मेवाड़-पतन' और 'उस पार' से इनका पद कहाँ तक ऊँचा है।

शाहजहाँ और नूरजहाँ के नाम से भारत का शिक्षित समाज अच्छी तरह परिचित है। उनका चित्र बचपन ही से हमारे हृदय में अंकित है। यदि कथा से कुछ हद तक परिचय हो, तो नाटक के दर्शकों की भीड़ और भी अधिक हो जाती है। इन नाटकों की कथा से हिंदू, मुसलमान सभी परिचित हैं। भीष्म, अहल्या, अमरसिंह, चंद्रगुप्त से, मुसलमान बालकों की कौन कहे, हिंदू बालक भी इतने परिचित नहीं जितने नूरजहाँ, शाहजहाँ और औरंगज़ेब से। सीता से इतना अधिक परिचय है कि उनके चरित्र-अभिनय में कोई विशेषता नहीं मालूम पड़ती। फिर इन पात्रों का समय भी इतना दूर नहीं है कि साधारण जन-समाज की

समझ में न आ सके, और न इतना निकट ही है कि उसमें कोई कौतूहल-जनक बात न मालूम पड़े। मुग़ल-साम्राज्य का विनाश हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ। उसके भग्न गौरव के चिह्न अब भी आगरे और दिल्ली में शान के साथ खड़े हुए हैं। भीष्म, अहल्या, सिंहबाहु और चंद्रगुप्त के समय को समझने के लिए कुछ कल्पना की मात्रा होनी चाहिए, जिसकी साधारण दर्शकों से आशा नहीं की जा सकती। नूरजहाँ की सज-धज का बेचारी अहल्या क्या मुक़ाबिला करेगी? एक हीरे और मोतियों की चकाचौंध से घिरी हुई भारत-सम्राज्ञी, दूसरी साधारण वस्त्र पहने हुए तपस्विनी! तब पाठक जान सकते हैं कि किस पर अधिक करतल-ध्वनि होगी। कुछ लोगों के विचार से इतिहास शाहजहाँ के अभिनय में रुकावटें डालता है; पर हम समझते हैं कि वह नाट्य-कला के मार्ग में भले ही रुकावटें डालता हो, पर अभिनय में तो सहायता ही पहुँचाता है।

इतिहास के साथ-साथ पश्चिमीय शिक्षा के प्रभाव से भी इन नाटकों की कीर्ति को सहायता मिली है। नाट्य-कला की दृष्टि से अँगरेजी नाट्य-साहित्य में—कदाचित् संसार के नाट्य-साहित्य में भी—शेक्सपियर से बढ़कर कोई दूसरा नाटककार नहीं हुआ। वह कोई दार्शनिक न था, और न मानवशास्त्र का अध्ययन किये हुए था। उस समय के रंगमंचों पर अभिनय करनेवालों में एक वह भी था। उसने—जान-बूझकर नहीं—अपने अपूर्व मानवीय हृदय से परिचित कल्पना की तरंग

में ही मानसिक जीवन के जो चित्र 'आथेलो', 'हैम्लेट', 'लियर' और 'मैकबेथ' में खींच दिये हैं, उनकी बराबरी करनेवाले अब भी कोई नाटक नहीं हैं। द्विजेंद्र बाबू ने पश्चिमीय शिक्षा के भार से उऋण होने के लिए ही इन नाटकों में मानसिक क्लेश का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। 'हैम्लेट' और 'आथेलो' के चरणों तक पहुँचने ही में 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' का गौरव है।

शाहजहाँ की तुलना लियर के साथ की गई है, परंतु समालोचक स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि वह लियर के आदर्श तक नहीं पहुँच सका। यदि नाटककार इतिहास की शृङ्खला से न बँधे होते, तो कदाचित् शाहजहाँ को महल के बाहर ले जाकर यमुना के श्मशान पर समाप्त कर देते; या नूरजहाँ को इतने उच्च शिखर पर से एक-दम गिरने पर क्लियोपाट्रा की दशा तक पहुँचा देते। परंतु नूरजहाँ तो इतिहास में पतन के पश्चात भी बीस वर्ष तक जीवित रहती है; फिर वह उसको अंत में लैला से मिलाकर क्यों न शांत कर देते।

इतना होने पर भी द्विजेंद्र बाबू के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। बहुत संभव है कि यदि वह किसी दूसरी कथा को लेकर, जिसमें उनको अपनी कल्पना से अधिक सहायता मिलती, मानसिक क्लेश के दिखाने का प्रयत्न करते, तो नाटक को 'हैम्लेट' या 'आथेलो' की बराबरी तक पहुँचा देते। अपने काल्पनिक पात्रों में वह इस मानसिक क्लेश का दिग्दर्शन करा

चुके हैं। अहल्या में कर्तव्य और लालसा का संघर्षण देखिए, सूर्यमल में मैकबेथ की झलक देखिए; भोलानाथ में आथेलो के दर्शन कीजिए; और गौरीनाथ में यागो का प्रतिबिंब पहचानिए। परंतु जिन नाटकों के ये पात्र हैं उनको मानसिक क्लेश दिखाने के उद्देश से नहीं, कदाचित् किसी दूसरे—और अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश से—नाटककार ने लिखा है; इसलिए ये नाटक हमारे बंगाली समालोचकों की दृष्टि में 'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' से समता नहीं कर सकते।

मानसिक क्लेश का दुर्बोध होना ही उसका एक गुण है; द्विजेंद्र बाबू यह बात समझे हुए थे, और इसी लिए उनके विचार में नूरजहाँ का चरित्र विशेष प्रकार से जटिल और दुर्बोध हो गया है। संभव है कि नाटककार की सरल प्रकृति ने ही अपने से उत्पन्न चरित्र को जटिल समझा हो; परंतु बात ऐसी नहीं है। नूरजहाँ के अपने मुँह से कहने पर भी—आत्म-प्रतारणा करने पर भी—यह बात सहज ही समझी जाती है कि उसने बदला लेने के लिए सम्राट् से विवाह नहीं किया था। उसके मन में क्षमता और गौरव की आकांक्षा के साथ-साथ भोग-लालसा ही गुप्त-रूप से बलवती थी। द्विजेंद्र बाबू की सरलता और कला-कुशलता ने इस बात को समझने का मार्ग सर्वत्र ही सुगम कर दिया है। नूरजहाँ कुछ हैम्लेट नहीं है जिसके विषय में अभी तक यही निर्णय नहीं हुआ कि वह वास्तविक पागल था या बना हुआ।

'नूरजहाँ' और 'शाहजहाँ' के संबंध में मानसिक क्लेश के विषय पर चाहे जो कुछ कहा जाय, पर द्विजेंद्र बाबू की वृत्ति दूसरी ही ओर थी। उनका धर्म न सनातन है न आर्य, न हिंदू, न मुसलमान। उनका धर्म है प्रेम। इस प्रेम का स्रोत माता की गोद से उमड़कर पति-पत्नी के जीवन को सींचता हुआ देश-भक्ति में व्याप्त हो जाता है। परंतु उसकी सुगंध देश ही के भीतर नहीं रहती; वह विश्वप्रेम के रूप में सर्व-व्यापी हो जाती है। गार्हस्थ्य-जीवन के अंत से, या देश के पतन से, उसका नाश नहीं होता। वह अमर और निर्विकार है। उसी के दिग्दर्शन में द्विजेंद्र बाबू का महत्त्व है, उसी में उनका गौरव है। यदि संसार को दिखाने योग्य द्विजेंद्र के कोई भी पात्र हैं तो वे नूरजहाँ, शाहजहाँ नहीं—मानसी, हेलेन और भोलानाथ हैं।

द्विजेंद्रलालजी के समय से बँगला-नाट्य-साहित्य ने जो उन्नति की है उसका अधिकतर श्रेय उपर्युक्त नाटकों को ही प्राप्त है। हिंदी के मौलिक नाट्य साहित्य की दशा अभी बहुत हीन है। इसकी उन्नति की आशा तभी की जा सकती है जब हिंदी-साहित्य में भी द्विजेंद्र ऐसे किसी नाटककार का जन्म हो*। इसके लिए इस प्रसिद्ध नाटककार के साथ वर्त्तमान

* हिंदी-संसार ने अपने होनहार साहित्यिकों की क़दर करना नहीं जाना। हमारे मध्य भी एक होनहार नाटककार ने जन्म लिया जो दूसरा द्विजेंद्र होता यदि उसे हमारे लक्ष्मीपतियों और

बँगला-रंगमंच की विस्तृत समीक्षा आवश्यक है। साथ ही पूँजीपतियों के सहयोग की भी आवश्यकता है। हिंदी-रंगमंच का बीजारोपण उनकी सहायता से ही हो सकता है, और रंगमंच के अनुभव-द्वारा ही नाट्य-साहित्य की पुष्टि हो सकती है। उपर्युक्त समीक्षा इस महत्त्व-पूर्ण विषय की भूमिका मात्र है।

साहित्य-समालोचकों ने प्रोत्साहित किया होता। उसका नाम माधव शुक्ल है। इस प्रसिद्ध नाटककार के नाटक और अभिनय, दोनों के देखने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त है। इसी लिए इस सूचना के देने का साहस किया है।

७—हिंदी में उपन्यास-साहित्य

हिंदी-साहित्य के भलेमानस समालोचकों को उपन्यास के नाम से चिढ़ है। साहित्य-भंडार में उपन्यासों की भरमार है, परंतु और किसी तरफ़ देखिए तो सन्नाटा है। उपन्यास बहुत हैं। उनके विषय में लिखना या साहित्य-प्रेमियों का उनकी ओर ध्यान दिलाना ठीक नहीं। प्रोत्साहन के लिए बहुत-से अन्य विषय हैं। क्यों न हम कुछ काल के लिए उपन्यास लिखना बंद कर दें और साहित्य के अन्य अंगों को परिपुष्ट करने का प्रयत्न करें?

यदि यह तर्क मान लिया जाय, तो इस लेख की कोई आवश्यकता न रहे। परंतु उपन्यासों की अधिकता होते हुए भी हम यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि उपन्यास न लिखे जायँ। जितनी भाषाएँ हैं, सभी के साहित्य में उपन्यासों की अधिकता है। उनका विषय ही ऐसा है। उनके समझने के लिए विद्वत्ता की आवश्यकता नहीं। उनसे मनोरंजन प्राप्त करने के लिए कोई मेहनत दरकार नहीं। संसार में विद्वानों तथा मेहनतियों की हमेशा कमी रहती है और रहेगी। इसलिए यदि उपन्यास सर्वप्रिय हों, यदि उनका प्रचार साहित्य में सबसे अधिक हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

परंतु जिस ढर्रे के उपन्यास अब तक हिंदी-साहित्य में पदार्पण कर चुके हैं उनके विरुद्ध समालोचक को अपनी क़लम उठाने का अधिकार अवश्य है। उपन्यास लिखे जायँ। फ़सली कहानियों की बात दूसरी है। परंतु जिनको कुछ दिन साहित्य में टिकना है, वे कम से कम उस श्रेणी के न हों जिसके अँगरेज़ी तथा अन्य पश्चिमी साहित्यों में फ़सली उपन्यास भी नहीं होते।

हिंदी-साहित्य में उपन्यास तीन ढंग के हैं। एक तो वे हैं जिनकी नींव तिलस्म होशरुबा पर है। हिंदी-साहित्य में इनके जन्मदाता बाबू देवकीनंदन हैं। इनकी चंद्रकांता का कुछ दिन तक हिंदी समझनेवालों में बड़ा नाम रहा। लेखक ने रुपया .खूब कमाया और जो हिन्दी नहीं जानते थे उनमें से बहुतों ने ऐयारी के क़िस्से पढ़ने के लिए हिंदी पढ़ी। इतना लाभ अवश्य हुआ। परंतु जो यह पूछो कि इनके उपन्यासों ने किसी का चरित्र सुधारा हो, किसी पाठक के विचार उन्नत किये हों, सो नहीं। देवकीनंदनजी ने साहित्य-कानन में वह फूल लगाये जिन्होंने .खूब जगह घेरी, देखने में सुंदर भी, परंतु न .खुशबू न बदबू।

दूसरी श्रेणी के उपन्यास वे हैं जिनकी नींव लंदन-रहस्य पर है। यदि हम भूल नहीं करते तो इनके जन्मदाता स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी हैं। कोई समय था जब उनके उपन्यासों का बड़ा नाम था। उपन्यासों या उनके पात्रों के नाम न सुनिए। उद्देश बहुत ही अच्छा। पाप का फल देखो। परंतु .खूबी यह कि पाप का बुरा फल देखकर भी उस पर आसक्त हो

जाओ और उसे गले लगा लो। ठीक है, जैसी रूह वैसे फ़रिश्ते। क्या रेनाल्ड्स का उद्देश बुरा था? परंतु लंदन-रहस्य के चरित्र? कौन माता-पिता ऐसे उपन्यासों को अपने नवयुवक बालकों के हाथ में देख थर्रा न उठेगा? ये वे फूल हैं जिनकी मनोहरता देखकर युवक-भ्रमर उनकी ओर दौड़ते हैं, परंतु उनके भीतर विष है जिसे पीकर वे पतित होते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि इस श्रेणी के उपन्यास-लेखकों का देशद्रोहियों की तरह मुख बंद कर दिया जाय।

तीसरी श्रेणी के उपन्यास ग़नीमत हैं। पर उनसे हमारे साहित्य का कोई गौरव नहीं। बँगला-साहित्य में बहुत-से उच्च कोटि के उपन्यास हैं। ये उन्हीं के अक्षरशः अनुवाद हैं, छायानुवाद हैं अथवा उन्हीं के ढर्रे पर लिखे हुए हैं। इनसे हिंदी-साहित्य को कम से कम इतना लाभ अवश्य पहुँचा है कि लोग अच्छे बुरे का भेद तो समझने लगे हैं। यह बँगला-साहित्य के लिए क्या कम गौरव-सूचक बात है कि उसके अनुवादों ने हिंदी-साहित्य के मौलिक उपन्यासों की आभा को फीका कर दिया है। ये वे फूल हैं जिनमें सुगंध है, अमृत है और सुंदरता भी है; परंतु जिन्हें देखकर हम गर्व के साथ यह नहीं कह सकते कि ये हमारे ही हैं।

इन तीन श्रेणियों के उपन्यासों को साहित्य से निकाल डालिए। अब देखिए कितने उपन्यास बचते हैं। कोई भी उपन्यास-लेखक इस साहित्य में है जिसकी तुलना बंगाल के

बंकिम और रवींद्रनाथ या इँगलिस्तान के स्काट और थैकरे से कर सकें? खूब ढूँढ़ा तो एक महाशय मिले। उर्दू से तोड़कर उन्हें किसी तरह हिंदी-साहित्य-मंदिर की ओर लाये, तो कोई उत्साह बढ़ानेवाला नहीं। मुदर्रिसी कीजिए या संपादकीय प्रूफ़रीडिंग कीजिए तो पेट का धंधा चले। फलतः आपके मौलिक उपन्यासों में सिर्फ़ एक ही ऐसा उपन्यास है जिसे हम किसी अन्य साहित्य-प्रदर्शनी में भेज सकते हैं। उसके पश्चात् बस। प्रेमचंदजी से हमें अब भी आशा है। उनके 'वरदान' से हम संतुष्ट नहीं। परंतु क्या जब स्काट ने अपनी आवश्यकता के लिए लिखा तो उसकी प्रतिभा में भी फीकापन नहीं आ गया? हम लोग आदर करना नहीं जानते। नहीं तो दूसरा 'सेवासदन' निकलता, 'वरदान' की नौबत ही न आती।

साहित्य में उच्च कोटि के मौलिक उपन्यासों की आवश्यकता है। हम यह नहीं कहते कि अन्य विषयों की हानि हो, परंतु हमें जाति के चरित्र तथा आदर्शों का भी खयाल है। इसलिए हमारा पाठक-समाज से अनुरोध है कि यदि उन्हें कोई प्रतिभाशाली लेखक मिल जाय तो वे उसे सुख से जीवन व्यतीत करने का मौक़ा अवश्य दें*।

* यह लेख चैत्र १९७८ सं० की 'मर्यादा' में प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक प्रेमचंदजी के कई अच्छे उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी के मौलिक उपन्यास-साहित्य की अन्य कलाकोविदों ने भी पुष्टि की है।

८—सेवासदन

आधुनिक हिंदी-साहित्य में जितने उपन्यास और धार्मिक विवादपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उतने और किसी विषय में नहीं हुए। साहित्य-वाटिका में घूमिए। बहुत कुछ ज़मीन उपन्यास ही घेरे हुए हैं। हिंदी-रसिक दर्शकों तथा साहित्य-सेवक मालियों का ध्यान भी इसी ओर है। संसार भर के भले-बुरे पौधे यहाँ मौजूद हैं। इधर देखिए तो बंगाली बंकिम और रवींद्र के साहित्य-सुमनों की क़लमें हैं; उधर गुजरात से लाई हुई सरस्वती-चंद्र की बेल है। कहीं ह्यूगो और ड्यूमाज के ऐतिहासिक उपन्यासों की क़लमें लगाने की कोशिश हो रही है। कहीं कुछ सज्जन अँगरेज़ी-साहित्य के कूड़े-कचरे से वाटिका को सुशोभित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक-आध कोने में, छिपे हुए, इने-गिने साहित्य-प्रेमी अपनी सच्ची साहित्य-सेवा का बीज बोते दिखाई देते हैं।

हिंदी में अनुवादित उपन्यास बहुत हैं—अच्छे और बुरे दोनों। परंतु मौलिक उपन्यास बहुत कम हैं। कथा-कहानियों की कमी नहीं है, क्योंकि उनका जन्म बहुत पहले हो चुका था। परंतु उपन्यास ने हिंदी-साहित्य में अँगरेज़ी राज्य, अँगरेज़ी शिक्षा और आधुनिक रुचि के साथ ही अवतार लिया है। परलोकवासी बाबू देवकीनंदन खत्री ने बहुत पहले

ही इस अवतार की ख़ूब आराधना की। उनके उपन्यासों ने अपने समय में साहित्य को बहुत कुछ लाभ पहुँचाया। समाज के चरित्र को बिना बहुत बिगाड़े उन्होंने हिंदी की ओर बहुत-से उपन्यास-रसिकों को आकृष्ट किया। जिनको तिलिस्मी कहानियों से शौक़ था वे अब चंद्रकांता-संतति पढ़ने लगे। लेखक को भी आर्थिक लाभ हुआ। बस, फिर क्या था। ऐयारी से पूर्ण उपन्यासों की धूम मच गई। काशी का उपन्यास-वृत्त इंद्रायणी फलों से लद गया। कुछ महाशयों ने—नाम लेने की आवश्यकता नहीं—प्रेम की पुट देकर अपने उपन्यासों को और भी ज़हरीला किंतु मनोहर बना दिया। इन विष-भरे कनक-घटों से 'अमृत' पीकर देश के 'रसिक' नवयुवक अपने चरित्र-पट पर नया रंग रँगने लगे। इस ओर समाज का ध्यान भी न गया। न लेखक ने सोचा और न पाठकों ने ही कि जब हमारी संतान यह देखेगी कि हमको इन्हीं गंदे उपन्यासों से शौक़ था तब वह हमारे चरित्र के संबंध में क्या कहेगी।

परंतु आशा की झलक दिखाई दे रही है। अच्छे उपन्यासों का आदर बढ़ता जाता है; चाहे वे अनुवादित ही क्यों न हों। ऐसे समय में साहित्य-सेवियों का यह धर्म है कि अच्छे उपन्यासों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करें और उनके लेखकों का उत्साह बढ़ाते रहें। इसी धर्म को यथा-बुद्धि निबाहने के लिए आज हम पाठकों से 'सेवासदन' का

परिचय कराते हैं। श्रीयुत 'प्रेमचंदजी' की आख्यायिकाओं से तो वे परिचित ही होंगे। यह उन्हीं की लेखनी से निकला हुआ पहला उपन्यास है।

यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं। इसकी तुलना न तो बंकिमकृत दुर्गेशनंदिनी से हो सकती है और न स्काटकृत आईवनहो (Ivanhoe) से। यदि तुलना हो सकती है तो रवींद्रनाथ या थैकरेकृत सामाजिक उपन्यासों से। परंतु इसमें भी कठिनाई है। सामाजिक उपन्यास के पात्र एक ख़ास देश-काल से संबंध रखते हैं। उनका प्रभाव भी तभी तक रहता है जब तक कि समाज अपनी रंगत न बदले। उसी देश में उनका आदर होता है जहाँ उन्होंने जन्म लिया है। इसी लिए सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद करना कठिन है और बेकार भी; अतएव एक दूसरे से इनकी तुलना करना कठिन है और अनुचित भी। इनके गुण-दोष समाज-चित्रण ही पर आश्रित रहते हैं।

शैतान के दर्शन कराना बहुत अच्छा नहीं और न उच्च कोटि के साहित्य में उसका चित्र खींचना सरल ही है। चित्र खींचने के दो ढंग हो सकते हैं। एक कुछ सरल है और चित्रकार के लिए अच्छी रक़म पैदा करने का द्वार भी है। दूसरा कठिन है; परंतु यदि चित्रकार चतुर न हो तो मेहनत घाते में रहेगी, गाँठ से भी कुछ खो बैठेगा। एक चित्र इतना लुभावना बनाया जा सकता है कि आप उसी से प्रेम करने

लगें। दूसरा इस प्रकार दिखाया जा सकता है कि दिव्य होने पर भी उसकी ओर से आपके हृदय में भय तथा घृणा के भाव पैदा हों। इसी से इन दोनों के लिए साहित्य में भेद माना गया है। एक दूकानदारी है, दूसरा साहित्य का रत्न।

उदाहरण के लिए, डिकेंस और रेनाल्ड्स की ओर देखिए। इँगलिस्तान के निर्धन मजदूरों पर दोनों की कृपा है। उनके अपार कष्टों का चित्र दोनों ने खींचा है। उनकी दरिद्रता से उत्पन्न पापों का करुणा-सूचक दृश्य दिखाने का प्रयत्न दोनों ने किया है। दोनों के हृदय में देश के अमीरों के चरित्रों की ओर से घृणा है। परंतु दोनों का क्रिया-कलाप अलग अलग है। डिकेंस के विषय में कहा जाता है कि यदि किसी उपन्यास-लेखक ने इँगलिस्तान के मजदूर-दल के उद्धार करने में सहायता दी है तो डिकेंस ने। इसी से उसके उपन्यासों की गिनती देश के साहित्य-रत्नों में है। रेनाल्ड्स ने अपने देश को कहाँ तक लाभ पहुँचाया, इसका उल्लेख न करना ही भला है। ईश्वर करे, हमारा साहित्य रेनाल्ड्स की कृपा-छाया से वंचित रहे।

सौभाग्य की बात है जो 'सेवासदन' रेनाल्ड्स के उपन्यासों की श्रेणी का नहीं होने पाया। उसमें समाज के उस शैतान का चित्र खींचा गया है जो हमारे शहरों के खास खास बाजारों के छज्जों को सुशोभित किये हुए है। लेखक ने इस कठिन कार्य को बड़ी चतुराई के साथ पूरा किया है।

जहाँ-तहाँ भाषा तथा भाव में दोष दिखाये जा सकते हैं। कहानी भी एक-आध जगह ज़रा असंबद्ध सी जँचेगी। लेखक के चरित्र-चित्रण से भी, कहीं कहीं पर, पाठक सहमत न होंगे। परंतु यह कहीं नहीं होने पाया है कि दालमंडी की गंदी वायु में घूमते हुए भी आपके विचार कलुषित हो जायँ। पाठक के भाव या तो पद्मसिंह से मिलेंगे या विट्ठलदास से। सदन या भोली से सहानुभूति रखकर उनके मन में लालसा के भाव न उत्पन्न होंगे।

वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाश्रम का अधःपतन होता है। सेवासदन में कही गई कहानी के द्वारा उसके उद्धार की रीति बताई गई है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश यही है। परंतु इसके प्रत्येक पात्र के चरित्र से एक न एक शिक्षा मिलती है। कृष्णचंद्र सच्चे हैं, परंतु उन्हें अपने सत्य को देश की दहेज़-प्रथा-रूपिणी भीषण दुर्देवी के चरणों में बलिदान करना पड़ता है। अपनी दुलारी और शिक्षिता लड़की के विवाह के लिए दहेज़ की रक़म जुटाने को वह रिशवत लेते हैं, पकड़े जाते हैं, क़ैद भुगतते हैं। घर मटियामेट हो जाता है। एक लड़की निर्धन वर के गले मढ़ी जाती है; दूसरी दासी होकर अपना समय काटती है; स्त्री मानसिक क्लेश का शिकार बनकर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है। इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चंद्र ही का सत्य टिक सकता था। जेल से लौटने पर कृष्णचंद्र के चरित्र का अच्छी तरह पतन हो गया

है। लेखक महोदय बहुत देर तक उनको हमारे सामने नहीं रहने देते। विपत्तिसागर में दो-चार और गोते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं।

कृष्णचंद्र का सा शोकमय अंत और किसी का नहीं। बाक़ी चरित्रों के पाठ में कहीं आनंद है, कहीं शोक और कहीं विप्लव; परंतु अंत शांतिपूर्ण है। इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यास का गौरव है। उसी में उपन्यास के प्राण हैं। सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बट्टा लग जाता तो उपन्यास किसी काम का न रहता। लेखक महाशय उसे पढ़ा-लिखाकर, और शारीरिक सुख की शौक़ीन बनाकर, पंद्रह रुपए महीने पर नौकर एक अधेड़ ब्राह्मण के साथ ब्याह देते हैं। चरित्र-चित्रण में सुमन को एक इसी बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है। वह पतिव्रता है सही, परंतु आत्मगौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निबाहने नहीं देती। इधर वह देखती है कि समाज में पतिव्रत की कोई क़दर नहीं। घर के सामने ही वह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े बड़े धर्मज्ञ करते हैं, पर उसके लिए इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नीच सिपाही के हाथ से भी बचा सके! पति महाशय (गजाधरजी) क्या करें। पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वह कुछ और ही

समझे। एक दिन आग लग ही तो गई। सुमन गृहिणी के उच्च पद से गिर गई।

परंतु अभी कुछ और पतन होना बाक़ी है। दूसरे दृश्य में उसे हम दालमंडी के एक कमरे में देखते हैं। यदि लेखक महाशय ज़रा भी चूक जाते तो सुमन के पतन की पराकाष्ठा हो जाती। सदनसिंह के प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है, परंतु पतित नहीं होने पाती। इसके पहले ही समाज-सुधारक विट्ठलदास उसके उद्धार के लिए पहुँच जाते हैं। पर उसका उद्धार नहीं होता। विधवा-आश्रम में उसका बहुत शीघ्र लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों का पड़ना, शांता की विपत्ति, उसके भावी श्वशुर मदनसिंह का विरोध—इनमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लिए काफ़ी था। परंतु लेखक उसको हर तरफ़ से बचाकर अंत में सेवासदन की संचालिका का पद तक दे देते हैं। सुमन ने अपने ही को नहीं, उपन्यास को भी गिर जाने से बचा लिया।

स्त्री-पात्रों में यदि प्रधान चरित्र सुमन का है तो पुरुष-पात्रों में पद्मसिंह का मानने योग्य है। कथा-प्रसंग में वह कुछ देर बाद दिखाई देते हैं। परंतु फिर वह दृष्टि के सामने से नहीं हटते। पद्मसिंह एक साधारण समाज-सुधारक हैं। विचारों के बहुत ऊँचे हैं, हृदय के बहुत कोमल हैं, परंतु हैं बड़े दब्बू। ऐसे पुरुष लेख चाहे जितने लिख मारें, वक्तृताएँ चाहे जितनी

झाड़ आयें, परंतु मौक़ा पड़ने पर रहेंगे सबके पीछे। नाच के बड़े विरोधी, परंतु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे। इसका उन्हें बहुत कुछ प्रायश्चित्त भी करना पड़ा—न यह नाच होता, और न सुमन घर से निकाली जाती। वह विट्ठलदास की शरण लेते हैं। परंतु उनसे पद्मसिंह की नहीं बनती। जैसे वह कर्म में कच्चे हैं, वैसे ही विट्ठलदास विचार में कच्चे हैं। चंदा वसूल करने में कठिनाई; वारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्यूनिसिपैलिटी के मेंबरों द्वारा विरोध; इधर घर में सदनसिंह की ज़ियादती, उधर सुमन की छोटी बहन शांता के साथ सदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढीले पड़ गये। परंतु विचार-शक्ति में कमी नहीं पड़ी। उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने अपना विचार प्रकट किया है कि वारनारियों को निकाल देने ही से सुधार न हो जायगा। क्यों न उनको और उनकी संतान को अच्छे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय? इस विचार को विट्ठलदास सेवा-सदन के रूप में परिणत करते हैं। परंतु पद्मसिंह के हृदय में अंत तक भय की सत्ता बनी रहती है। झेंप के मारे वह सेवा-सदन में नहीं जाते; कहीं ऐसा न हो जो सुमन से चार आँखें हो जायँ।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं। परंतु लेख बढ़ जाने के भय से हम उनका वर्णन न करेंगे। सरला शांता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अंत में, सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना

बदा था। चंचला परंतु पतिव्रता सुभद्रा, अनेक आपदाएँ झेल-कर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के संन्यासाश्रमी अवतार गजानंद, अंत में, बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबारकर शांति-प्रदान करते हैं। पुराने विचार के दिहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिगड़े हुए नवयुवक सदनसिंह का पतन, और अपनी ही मेहनत-द्वारा उद्धार; म्यूनिसिपैलिटी के मेंबरों में से कोई गान-विद्या और हिंदी का शौक़ीन है; किसी को अँगरेज़ी बोले बिना चैन नहीं; किसी के दुर्व्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन सबके लिए इस उपन्यास में जगह है, सबके चित्र देखने को मिलते हैं; सबसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटाकर यदि वह उसके उद्देश की ओर प्रेरित की जाय तो एक बहुत बड़ा सामाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवासदन', जिसकी झलक हम उपन्यास-स्वप्न में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष भी देखना नसीब होगा? प्रश्न कठिन है। शहरों की आबादी दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। इस काम को म्यूनिसिपैलिटियों के भरोसे छोड़ देने से सफलता होने की नहीं। देखें, हमारी व्यवस्थापक-सभायें इस प्रश्न को क्योंकर हल करती हैं। लेखक के विचार यदि उपन्यास के बहाने पाठक जनता पर कुछ भी

असर करें तो समाज एक बड़े बुरे रोग से मुक्त हो जाय।

उपन्यास में दोष दिखाने के लिए बहुत कम जगह है। पुस्तक छपने में यत्र-तत्र ग़लतियाँ रह गई हैं। मुसलमानों की उर्दू बहुत क्लिष्ट है। यदि सरल हो सकती तो बहुत अच्छा था; टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ ही लिख दिये जाते तो पाठकों को बहुत सुभीता हो जाता।

हम आशा करते हैं कि लेखक महाशय की लेखनी से और भी अच्छे अच्छे उपन्यासों की सृष्टि होगी। ईश्वर करे, वह समय शीघ्र आवे जब हमें यह कहने का सौभाग्य प्राप्त हो कि हिंदी-साहित्य में भी थैकरे, डिकेंस, स्काट और रवींद्र की कमी नहीं है।

६—प्रेमाश्रम

प्रेमचंदजी से हम निराश हो चुके थे। 'सेवासदन' के पश्चात 'वरदान' के दर्शन होने पर हमें बहुत शोक हुआ था। 'वरदान' क्या था, रुपये की आवश्यकता थी, समय का अभाव था, और बे-मन का काम था। फिर हमने सुना, कि वह किसी स्कूल के हेडमास्टर हो गये। उसे भी छोड़कर किसी पत्रिका के संपादक हो गये। हमने आशा छोड़ दी। देश में साहित्य-रत्न के इतने कम जौहरी हैं कि वह मुदर्रिसी या संपादकीय प्रूफ़रीडिंग किया करें! किसी और देश में 'सेवासदन' के लेखक को साहित्य-संसार ने जन्म भर के लिए स्वतंत्र कर दिया होता। परंतु यहाँ साहित्य-सेवा आप शौक़िया कर सकते हैं, पेट के लिए कोई और धंधा चाहिए। अस्तु।

'वरदान' के बाद 'प्रेमाश्रम' के दर्शन हुए। फिर वही आशाएँ अंकुरित हुईं। हिंदी-साहित्य के सौभाग्य से प्रेमचंदजी की लेखनी में कोई भी शिथिलता नहीं आने पाई। संसार दूसरा है, समय भी दूसरा है। 'सेवासदन' में चित्र कम हैं, पर साफ़ हैं। 'प्रेमाश्रम' में चित्र बहुत हैं, और उनमें से कुछ दुर्बोध भी हैं, पर चित्रणकला में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई है। 'सेवासदन' का उद्देश्य सामाजिक है और

प्रेमाश्रम का राजनीतिक; परंतु दोनों देश-प्रेम के सूत्र में बँधे हैं। हिंदी-संसार के उपन्यास-साहित्य में 'प्रेमाश्रम' 'सेवा-सदन' से कम नहीं है। और यदि किसी पुस्तक के प्रभाव से उसके पद का निरीक्षण हो, तो शायद 'प्रेमाश्रम' आधुनिक भारतीय उपन्यास-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ उतरे।

'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचंद्रजी के उपन्यासों को देखकर अँगरेज़ी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरंत कह सकते हैं कि यह स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवींद्रनाथजी के उपन्यासों को आप सामाजिक कह सकते हैं। आपको अँगरेज़ी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज इलियट, थैकरे, या डिकेंस—इनके तथा रवींद्रनाथजी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परंतु प्रेमचंदजी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनकी हँसी उड़ाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परंतु इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद यह प्रेमचंदजी से अधिक निपुण हों; परंतु इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, इतना कल्पना का विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हँसे या कुढ़े,

परंतु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुंदरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रक्खा जाय?

श्रेणी-बद्ध करना समालोचक के काम को सरल करना है, परंतु हम उसे ऐसा करने में असमर्थ हैं। अस्तु, चाहे जो कठिनता हो, हम बिना नामकरण किये ही इसका अवलोकन करते हैं।

उपन्यास की भूमिका प्रायः यों होती है—कोई पहाड़ी दृश्य है, प्रकृति का कोई विलक्षण आभास है। पात्रों के दर्शन हुए। कोई राजकुमार है, तो कोई उसका सखा है, या वैरी है। दैवयोग से किसी नवयौवना से भेंट हो जाती है। वह भी कोई राजकुमारी है। पर उसका पिता विवाह के लिए राज़ी नहीं होता। बहुत-सी कठिनाइयों के बाद—जिनमें और भी उसी मेल के पात्र अपना दर्शन देते हैं—मिलन या प्राणांत का विवरण देकर कहानी समाप्त होती है।

यहाँ सुक्खू चौधरी, बलराज, रबी की फ़सल, नौकरी और साम्यवाद को कौन पूछता है! बड़े बड़े राजमंदिरों, क़िलों

और उनके तिलिस्मों के मुक़ाबले बिचारे लखनपुर या हाजीपुर के झोपड़ों को कौन देखता है ! सेवासदन का प्रसंग तो शायद प्रचलित उपन्यासों के पाठक समझ सकें। प्रेमाश्रम में क्या है ! भला दुखरन भगत, मनोहर, ग़ौसखाँ, क़ादिर मियाँ और बेगार के दिहाती झगड़ों में क्या मनोरंजन।

यह प्रेमचंदजी का ही काम था कि वह दिहाती झगड़ों का करुणाजनक दृश्य दिखाने में सफल हुए हैं। यों तो राय कमालानंद; गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डा० इर्फ़ान-अली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं; परंतु उनका अस्तित्व दिहात ही से है। सुक्खू, विलासी, मनोहर, बलराज, क़ादिर मियाँ—ये सब तो पूरे दिहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिए। शायद किसी और समय, दिहात और बेगार, मुक़द्दमेबाज़ी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १९२१ का लिखा हुआ है। और उस वर्ष के अंदर जितना आंदोलन और राजनीतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारणतः ५० वर्ष में पहुँचता।

प्रेमाश्रम हाजीपुर का दूसरा नाम है, परंतु उपन्यास की नींव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी के से पंचों के खँडहर, क़ादिर मियाँ के से नरम दिहाती नेता, मनोहर के से

अक्खड़ किसान, बलराज के से उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में देख सकते हो। यों तो ये बहुत समय से अज्ञानावस्था का सुख भोगते चले आ रहे थे। उनके प्रभाशंकर के से ज़मींदार थे, जिनको अभी तक पाश्चात्य सभ्यता की हवा नहीं लगी थी, जो अभ्यागतों के सम्मान में अपनी इज्ज़त समझते थे, जिनको अपने असामियों के प्रति सहानुभूति थी, जिन्हें उनके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था। ऐसे समय ज़मींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परंतु इधर पाश्चात्य सभ्यता का आगमन हुआ। चीज़ों का निर्ख बढ़ा, सो तो ठीक ही था। मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। जिन ज़मींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अँगरखा या मिर्ज़ई पहनते थे, उनकी संतानों के लिए मोटर की सवारी, लंबी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। दिहात की उन्नति कौन करता है! इज़ाफ़ा और बेदख़ली का अत्याचार होना आवश्यक था।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ़ उन्हीं मनुष्यों का अत्याचार है, जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने ज़मींदारी पर हाथ नहीं लगाया। इसलिए अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अँगरेज़ हाकिम अच्छे होते हैं। परंतु इधर प्रभाशंकर का बुढ़ापा,

ज़मींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और उधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग! ज्ञानशंकर ने हर तरफ़ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया। बस, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव होता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक या नायिका हैं या नहीं? यदि हैं, तो कौन हैं, और नहीं हैं तो क्यों नहीं?

यह तो मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिका हैं ही नहीं। यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। लखनपुर में क़ादिर मियाँ और शहर में राय कमलानंद, इन पात्रों की ओर भी लेखक का आदर-भाव है। परंतु हमारा विचार है कि चरित्र की उज्ज्वलता ही की कसौटी पर हम नायक तथा नायिका की परख नहीं कर सकते। देखना यह चाहिए कि किस चरित्र के चित्रण में लेखक ने अधिक परिश्रम किया है, किस पात्र के सहारे कहानी आगे बढ़ती है और किसके न होने से उसका अंत हो जाता है। बंकिम की 'दुर्गेश-नंदिनी' में जगत्सिंह प्रेमी है और तिलोत्तमा उसकी प्रेमिका; परंतु आयशा उपन्यास की नायिका है। 'सेवासदन' में उपन्यास को सुमन का सहारा है; यद्यपि चरित्र विट्ठलदास का ही आदरणीय है। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र

आदरणीय नहीं है। गायत्री भी विद्या के सामने तुच्छ मालूम पड़ती है। परंतु हैं ये ही उपन्यास के नायक और नायिका। ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता। इतिहास तो विपत्तियों का ही लिखा जाता है। देखिए न, भविष्य में समृद्धिशाली, सुखमय लखनपुर की झलक दिखाने में लेखक ने कितने कम पन्ने रँगे हैं। यदि प्रभाशंकर मालिक बने रहते तो मनोहर से क्यों झगड़ा उठता; इज़ाफ़े की क्यों तजवीज़ होती! उपन्यास के लिए एक शिक्षित, उत्साही, ऐश्वर्य-लोलुप, परंतु चरित्रहीन नायक की आवश्यकता थी। ज्ञानशंकर की सृष्टि करना लेखक के लिए आवश्यक था।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है। एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नई रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है, यह बहुत ही ख़ूबी के साथ दिखलाया गया है। यह बात नहीं थी कि उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया हो। जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है; तो हमें उसकी अंतरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक देख पड़ती है, परंतु फिर परदा गिर जाता है और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। विधाता काल है। वह समझता है कि

अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनंदमय बना सकेगा; परंतु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमन-साहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह के स्वाभिमान, राय कमलानंद की निष्काम संसार-परता—सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। पर किस लिए? पुत्र मायाशंकर के लिए? क्या यह निश्चय है कि उसकी वृत्ति अपने पिता के पदांक का अनुसरण करेगी? वह भविष्य जिसके लिए ज्ञानशंकर ने राय कमलानंद को ज़हर दिया और गायत्री को फँसाने का प्रेम-जाल रचा, उसके हाथ से निकलकर प्रेमशंकर से मिल गया। राय कमलानंद की भविष्यवाणी पूर्ण हुई "धन संपत्ति तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तुम जो चालें चलोगे, सब उलटी पड़ेंगी।" There is a destiny that shapes our ends, Rough hew them how we will. "मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है! और भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर!" ऐश्वर्य-लोलुपता का ऐसा विशाल चित्र हिंदी-साहित्य भर में शायद ही और हो।

उपन्यास के दो अंग हो सकते हैं। एक सामाजिक, दूसरा राजनीतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए हैं। पर इन दोनों में एक एक प्रधान पात्र भी हैं। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनीतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इज़ाफ़े से कोई संबंध नहीं है। वह एक बड़ी भारी ज़मींदारी की मालकिन अवश्य है।

उसके प्रबंध के लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है। परंतु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष संबंध नहीं है। उसमें धर्मनिष्ठा है। परंतु साथ ही सुख-भोग की सामग्री भी उसके पास बहुत है। सुमन सधवा थी, उसका पतन समाज की कुरुचि और उसकी दरिद्रता ने किया। गायत्री का पतन उसमें धर्म-निष्ठा होते हुए भी सांसारिक लालसा से होता है।

'आँख की किरकिरी' में माया (विनोदनी) का पतन दूसरी तरह होता है। रवींद्रनाथजी ने एक ही भाव को लेकर हर पहलू से उसे दिखाया है। माया का लालसामय प्रेम सामाजिक बंधनों को तोड़कर नग्न रूप में अपनी कला के बल से हमें चकित अवश्य कर देता है। पर विचारपूर्वक देखिए, तो यह हिंदू-समाज के लिए स्वाभाविक नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है। उसे नहीं मालूम होता कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अंधकार-मय गढ़ा दिखाई देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिंदू विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

जीवित उदाहरणों को किसी तीर्थ में जाकर देखिए। जिस धर्म के नाम पर व्यभिचार होता है, उसके सजीव प्रतिबिंब गायत्री और ज्ञानशंकर के चित्र में हैं। सुमन का उद्धार करना आवश्यक था, नहीं तो सेवासदन का विकास ही न होता। गायत्री के उद्धार की कोई आवश्यकता नहीं थी,

इसी लिए लेखक ने उसे चार सतरों के अंदर अनंत विस्मृति में विलीन कर देना ही ठीक समझा। ज्ञानशंकर के लिए भी ऐसा ही अंत होना ज़रूरी था।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है, जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है, तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में है। जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृतरूपी फल हैं। कुछ मित्रों का ख़याल है कि प्रेमशंकर में गांधीजी की छाया है। हम लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो नहीं कर सकते; हमें तो इस पात्र में महर्षि टाल्स्टाय के चरित्र की छाया दिखाई पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभाड़ा! परंतु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये हैं। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी; गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गई; उसका उन्हें समय समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया; इसके लिए भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है। पर वह अपने कर्तव्य से विचलित

नहीं होते। इसी लिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं। लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श ज़मींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया, उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दंड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर, और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे; इसी लिए लेखक ने इनका अंत ही कर दिया। सुक्खू चौधरी बैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी-कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इर्फ़ानअली ने वकालत छोड़ दी और डा० प्रियानाथ एक सर्व-प्रिय डाक्टर हो गये; यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी शुश्रूषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था; सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला-द्वारा सम्मिलन भी हो गया!

और भी पात्र हैं। गाँव के अत्याचारी अँगरेज़ नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू को ग़ौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं, परंतु धोखा खाते हैं, और उन्हें इस्तीफ़ा देना पड़ता है। ग़ौसखाँ का भी वही अंत हुआ जो अत्याचारी ज़िलेदारों का होता है। मनोहर की उद्दंडता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी, परंतु गाँव पर

विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया।। क़ादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतंत्रता है, वह किसी में नहीं; क्योंकि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुई, तो वह भविष्य का बोलशेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके झगड़ों को शांत करने का प्रयत्न करती रहती है; पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रौपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती! इस विप्लव के शांत होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज़ एक्सिलेंसी गुरुदत्त राय चौधरी और भावी ज़मींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुखभोग करते हुए दर्शन देते हैं। उपन्यास-लेखक के साथ हम भी कहते हैं—"तथास्तु"।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानंद का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के इस संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अंतर नहीं आता। इनकी भोग-क्रियाएँ इसी लिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक सुख भोग

कर सकें। इनका आत्मबल इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका। परंतु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा था। ज्ञानशंकर की कुटिलता ने इन्हें भी सच्चा मार्ग दिखा दिया, जिसकी झलक हमें उपन्यास के अंत में देखने को मिलती है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र भी उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिंदू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि उसके सामने कोई जटिल समस्या ही कभी नहीं आई। और जब उस पर कष्ट पड़ता है, तो लेखक उसे बरदाश्त करने योग्य न समझकर उसका अंत ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यही अंत होना था। श्रद्धा के सामने पहले ही से धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है। पर प्रेमशंकर के चरित्र का अंत में उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की शृंखलाएँ ढीली पड़ गईं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिलाकर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

पात्रों का अवलोकन तो थोड़ा-बहुत हो चुका। अब लेख-शैली पर विचार कीजिए। प्रेमचंदजी की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिंदी ही रहती है, पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बद-लता रहता है। 'सेवासदन' में मुसलमानों की दलील सलीस उर्दू में है और अँगरेजी पढ़े-लिखे पात्रों की भाषा में अँगरेजी की खिचड़ी है। 'प्रेमाश्रम' में दिहाती पात्र भी हैं, इसलिए

उनके काम में आनेवाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिसवत, सरबस, मुदा, मसक्कत, मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब दिहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ़ करतार की बिगड़ गई है। वह ठेठ गँवारू है। और जितने दिहाती हैं, उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही गया है। विशुद्ध भाषा के पक्षपाती चाहे नाक-भौं सिकोड़ें, परंतु हमारी समझ में इससे कोई हर्ज़ नहीं, यदि पात्रों की भाषा में उनके व्यवहार में आनेवाले ही शब्द रक्खे जायँ। व्याकरण की टाँग तोड़ने के हम भी विरुद्ध हैं। हम यह नहीं चाहते कि बंगाली पात्र की भाषा में लिंग की ग़लतियाँ की जायँ और अँगरेज़ की ज़बान में तवर्ग के शब्द ही न निकलें। पर यदि पात्रानुसार दो-चार शब्दों के गढ़ देने से उसका अस्तित्व प्रकट या सजीव किया जा सके, तो कोई हानि नहीं। ऐसी दशा में लेखक भाषा को बिगाड़ने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इन शब्दों ने दिहातियों के वार्तालाप को स्वाभाविक बना दिया है; उसमें जान डाल दी है। इनसे भाषा को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

प्रेमचंदजी ने अपनी लेख-शैली में "इनवर्टेड कामाज़" का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिंदी में इनवर्टेड कामाज़ नहीं थे। इधर जब से अँगरेज़ी का हिंदी पर प्रभाव पड़ा, फ़ुलस्टाप को छोड़कर और सभी चिह्नों ने हिंदी पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। ये आगंतुक

इनवर्टेड कामाज़ हिंदी में बहुत खलते थे। लेखक ने इनका बहिष्कार ही कर दिया है। वार्तालाप में पात्र का नाम और उसके वाक्य—बस काम निकल गया। कोई आंतरिक विचार हुए या कोई लंबी बातचीत हुई, तो इसकी भी आवश्यकता नहीं। लेखक और पात्र दोनों एक ही तरंग में एक दूसरे से लड़ते हुए बहते चले जाते हैं।

अब मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएँ देखिए। वे उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों या लेखक के अर्पण किये दीपकों की तरह दर्शन देते चले जात हैं। 'सेवा-सदन' लेखक के ख़ज़ाने को ख़ाली नहीं कर सका। 'प्रेमाश्रम' की उक्तियाँ वैसी ही नवीन और हृदय-ग्राही हैं, जैसी कि पहले उपन्यास की।

मनोविकार-चित्रण ने लेखक की बात रख ली है। "मानव-चरित न बिलकुल श्यामल होता है न श्वेत। उसमें दोनों रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है।" प्रेमशंकर को अपनी जाति-सेवा में भ्रातृ-विद्वेष की झलक मालूम पड़ती है। ज्ञानशंकर को अंत में अपनी स्वार्थपरता का अनुभव होता है। राय कमलानंद को सांसारिक आनंद में रत रहने का फल भोगना पड़ता है। केवल विद्या और क़ादिर मियाँ के चरित्र निर्मल हैं; और यह शायद इसलिए कि लेखक ने उन पर अधिक प्रकाश नहीं डाला। इस चित्रण-कौशल का यह फल है कि

किसी पात्र से हम घृणा नहीं करते और न किसी को आदर्श ही मानते हैं। धर्म और अर्थ में हर जगह क्लेश है।

जहाँ इतने गुण दिखाये गये वहाँ दोष भी दिखाना आवश्यक है। उपन्यास इतना बड़ा है, परंतु कोई सूची नहीं। अध्यायों के सिर्फ़ नंबर दिये हुए हैं। यदि शीर्षक भी होते, तो पाठकों को अधिक सुभीता रहता। क्लिष्ट उर्दू के अर्थ तथा दिहाती हिंदी शब्दों के शुद्ध रूप भी दे देना अच्छा होता। प्रूफ़रीडिंग में बहुत कुछ असावधानी से काम लिया गया है; और विशेष कमी यह है कि आजकल की रीति के अनुसार इतने बड़े उपन्यास के लिए एक चित्रकार की सहायता भी परम आवश्यक थी।

हमारे यहाँ अनुवादित उपन्यासों का बाज़ार गर्म है। हम अँगरेज़ी, बँगला, मराठी इत्यादि भाषाओं का बहुत कुछ उधार खाये बैठे हैं। क्या यह संभव नहीं कि यह उपन्यास हिंदी-संसार की तरफ़ से इन भाषाओं को भी भेंट किया जाय ?*

---

* आक्टोबर १९२२ की 'माधुरी' से उद्‌धृत। ग्रंथ के चतुर्थ संस्करण में कठिन उर्दू-शब्दों के अर्थ दे दिये गये हैं।

१०—रंगभूमि

प्रेमचंद्जी की 'रंगभूमि' की इतनी आलोचनाओं के साथ एक और आलोचना क्यों निकले। धृष्टता के लिए क्षमा-प्रार्थना है। प्रेमचंद्जी के अब तक तीन उपन्यास निकल चुके हैं। इसलिए हमें अब 'रंगभूमि' के पात्रों की विशेष व्याख्या नहीं करनी है। परंतु उन गहन समस्याओं पर विचार करना है जिन पर लेखक ने औपन्यासिक कला की आड़ में कुछ प्रकाश डाला है। 'रंगभूमि' तक पहुँचकर लेखक की शैली और कला परिपक्व हो गई है। इस शैली और कला की जाँच करना है। फिर यह भी अनुमान करना है कि आधुनिक साहित्य में और भविष्य के लिए प्रेमचंद्जी के उपन्यास कुछ सँदेशा भी देंगे या यह भी अन्य सामयिक साहित्य की भाँति अपना समय बीतने पर अनंत विस्मृति की गोद में लीन हो जायँगे।

यों तो उपन्यास का उद्देश साफ़ प्रकट है—

तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़ै ? भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?

प्रेमचंद्जी बार बार अपने नायक सूरदास के मुँह से जीवन के इस महत्त्वमय रहस्य का उल्लेख करते हैं। परंतु इसके परे एक और समस्या है, जो संसार-मात्र में पारस्परिक

कलह और अशांति का कारण हो रही है। वह है प्रचलित पुतलीघर-प्रणाली का दिहात के नैसर्गिक जीवन पर कोप और दोनों के पारस्परिक विरोध में दिहात का जीवन-विनाश और अधर्म, रोग और दुर्व्यसन का प्रचार।

योरप में यह विरोध समाप्त हो चुका। वहाँ पुतलीघर-प्रणाली के सामने दिहाती जीवन का प्रायः अंत हो चुका है। अधर्म, रोग और दुर्व्यसन के परिणामों से योरपीय समाज को बचाने के लिए वहाँ का समस्त चिकित्सा-शास्त्र, ईसाई-धर्म तथा साम्यवाद के सिद्धांत अपने अपने ढंग से प्रयत्न कर रहे हैं। भारतवर्ष में इस विरोध का प्रारंभ-मात्र हुआ है। 'रंगभूमि' में जॉन सेवक और सूरदास-द्वारा इस विरोध की व्याख्या की गई है। प्रचलित व्यवसाय-प्रणाली का यह उद्देश कदापि नहीं है कि सर्वसाधारण को कष्ट हो अथवा उसके द्वारा धर्म तथा ज्ञान का विनाश हो। जॉन सेवक और उनके व्यवसायी भाई यही आशा करते हैं कि देश में कल-कारख़ानों का प्रचार कर वे उसे समृद्धिशाली और सुखी बना सकेंगे। टेनिसन ने अपने लॉक्सले हॉल (Locksley Hall)* में एक ऐसे व्यावसायिक संगठन का सुख-स्वप्न देखा है जो धर्म और अर्थ—दोनों के

---

* There the common sense of most shall
Hold a fretful realm in awe,
And the kindly earth shall slumber, lapt
In universal law.

अनुकूल है। परतु ऐसा संगठन कवि के स्वप्न-संसार में ही है; उसके इस मृत्युलोक में कहीं दशन नहीं हुए हैं।

यह समस्या क्योंकर हल हो? उपन्यास-लेखक का यह काम नहीं है। उसने इस पर प्रकाश डाल दिया, यही बहुत है। हाँ, समाज-सुधारकों तथा संपत्तिशास्त्रवेत्ताओं का यह अवश्य काम है। 'प्रेमाश्रम' में जिस आदर्श ग्राम की प्रेमचंदजी ने झलक दिखाई है, वह यथेष्ट नहीं है। शिल्प, वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति करना देश की समृद्धि के लिए आवश्यक है। जिस पुतलीघर-प्रथा का पश्चिम में चलन है उससे देश समृद्धिशाली अवश्य होते हैं, परंतु वास्तविक सुख का ह्रास होता है। जापान में इस पाशविक प्रथा का ज्वलंत परिणाम लोग भुगत रहे हैं। वहाँ का सामाजिक संगठन प्रायः ऐसा ही था जैसा यहाँ है। इस प्रथा ने सामाजिक बंधनों को तोड़ डाला है, जिसके कारण वहाँ सर्वत्र अशांति का साम्राज्य है। क्या धर्म और अर्थ, ईश्वर और माया के बीच समझौते की संभावना नहीं है?

जिस चरखा-प्रणाली का महात्मा गांधी प्रचार कर रहे हैं उसके हृदय में इस अशांति की ओषधि है। यदि इस प्रचार के साथ राजनीतिक विप्लव का सामंजस्य न होता तो शायद गांधीजी की चरखाविषयक प्रस्तावना पर संपत्तिशास्त्रवेत्ताओं का ध्यान आकृष्ट होता और जनता इस प्रस्ताव के वास्तविक आशय को समझकर दिहात में करघे और चरखे चलाकर

दिहातियों को कल-कारख़ानों की हवा से दूर रखती। यदि सरकार और समाज दोनों चाहें तो इस समस्या को हल करने का यों प्रयत्न कर सकते हैं—कारख़ानों के बनाने की तब तक आज्ञा न दी जाय जब तक मज़दूरों को सपरिवार बसाने का कारख़ानेवाले प्रबंध न कर सकें। बाहर से आये हुए माल पर इतना कर लगाया जाय और दिहातियों के अपने घर के बने हुए कपड़ों को इतनी सहायता दी जाय कि ये कपड़े कारख़ानों के कपड़ों से सस्ते पड़ें।

दूसरी समस्या जिसका संबंध मनोविज्ञान से है, हमें विनय और सोफ़ी के चरित्र-चित्रण से मिलती है। मनुष्य और स्त्री की प्रेमभावना में क्या अंतर है? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमोपासना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश से लालसा के पाताल तक है; और स्त्री का उससे उलटा, लालसा के पाताल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा है तो चरित्रचित्रण में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माता जाह्नवी की कृपा से। सोफ़ी के प्रेमपाश में फँसकर उसमें अधर्मता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम से गिरकर इंद्रिय-भोग की लालसा में अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है। सोफ़ी का दूसरा हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अबला है, परंतु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरांगना बना देता है। उपन्यास के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' में गायत्री और सुमन के चरित्र में भेद यही है कि गायत्री आदर्श भक्ति के आकाश से गिरकर लालसा की कंदरा में गिरती है। पर सुमन इसे पार कर सेवा-मार्ग के आदर्श तक पहुँच जाती है। परिस्थितियों के भेद चरित्रों को रंग-बिरंगे भावों में प्रदर्शित करते हैं। परंतु इतना अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचंदजी ने भारतीय स्त्रीत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र खींचा है। मनुष्य लालसा और लोभ के वश तो कर्मण्य रहते हैं, पर आदर्श उन्हें अकर्मण्य और आलसी ही कर देता है। स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में फँस जाती हैं, पर अपना धर्म नहीं खोतीं और मनुष्य की भाँति कठिन समस्या आ पड़ने पर अकर्मण्य नहीं हो जातीं।

हम पहले कहीं कह चुके हैं कि प्रेमचंदजी दिहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं। यदि उनके तीनों उपन्यासों—सेवासदन, प्रेमाश्रम और रंगभूमि—पर दृष्टि डाली जाय तो हम यह देख सकते हैं कि प्रेमचंदजी का प्रेम शहर से दिहात की ओर झुकता जा रहा है। 'सेवासदन' काशी की गंदी गलियों और दालमंडी की दूषित वायु से घिरा हुआ है। कहीं अंत में गंगा पार कर हमें सेवासदन के नैसर्गिक ग्रामीण जीवन की झलक मिलती है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंदजी ने 'सेवासदन' की भाँति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है। पर साथ ही वास्तविक लखनपुर

की भी पूरी व्याख्या की है। 'रंगभूमि' का पाँड़ेपुर 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर है। वही साधारणतः लोभ और पारस्परिक कलह, पर कष्ट के समय निःस्वार्थ सेवा और पारस्परिक सहानुभूति। 'प्रेमाश्रम' में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस भारतीय ग्राम को हम क्योंकर ज़मींदार द्वारा आदर्शमय बना सकते हैं; और 'रंगभूमि' में वह हृदयविदारक दृश्य है जिसका अभिनय समस्त संसार में हो रहा है। कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करते हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं, इसकी सूरदास ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी। "सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक ज़रूर बढ़ जायगी, रोज़गारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, क़सबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधर्म होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँवों में फैलायेंगे; दिहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी।" बजरंगी और जगधर के मकान मिट गये, सूरदास को झोपड़ी के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। परंतु यह दृश्य उतने कष्टमय

नहीं हैं जितना कि वह जिसमें दिहात के नवयुवक घीसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है "धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाये प्रसन्न नहीं होता"। 'प्रेमाश्रम' में वास्तविक ग्राम और आदर्श ग्राम की तुलना की गई है। इस उपन्यास पर दिहात के जीवन का ही साम्राज्य है। नायक और नायिकाएँ शहर के हैं, पर वे दिहात ही पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। 'रंगभूमि' मे दिहाती जीवन के विनाश का करुणामय दृश्य है। विस्तार के कारण इसका क्षेत्र काशी से उदयपुर तक है। बहुत से पात्र हैं—देशी और विदेशी, दिहाती और शहरुए—पर नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में दिहात के जीवन का चित्र है। दिहातियों की सरलता, उनकी धर्मभीरुता, उनका साहस, उनकी सहनशक्ति, उनकी अपरिवर्तनमय प्रकृति, उनके घरेलू झगड़, उनकी संगठन और नेतृत्व-शक्ति—इन सब रंगों का सूरदास के चित्र में कौशलपूर्ण सम्मिश्रण है।

'सेवासदन' में दिहात के उदय, 'प्रेमाश्रम' में उसके मध्याह्न और 'रंगभूमि' में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा, दूसरे में आशा और निराशा दोनों का मेल, और तीसरे में अंधकार और निराशा। हमारे जीवन-स्रोत में—और उपन्यास-लेखक के जीवन-स्रोत में भी—इसी प्रकार भावों का परिवर्तन होता रहता है। यदि यह सच है तो इन उपन्यासों को देखकर ही हम बता सकते हैं कि कौन किसके

पश्चात् लिखे गये हैं। 'रंगभूमि' में करुणा की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं हास्य है वह भी करुण-रस की शोभा बढ़ाने के लिए। उदाहरणार्थ विनय को माता का पत्र मिला। आशय यह था कि तुम कर्तव्यविमुख हो गये हो, मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहती। विनय को अपनी माता की आदर्शवादिता पर गर्व हुआ, मन में कहने लगा, "देवी! मैं स्वयं अपने को तुम्हारा पुत्र कहते हुए लज्जित हूँ।...संभव है अंतिम समय तुम्हारा पवित्र आशीर्वाद पा जाऊँ। ..विनय ने बाहर की तरफ़ देखा। सूर्यदेव किसी लज्जित प्राणी की भाँति अपना कांतिहीन मुख पर्वतों की आड़ में छिपा चुके थे। नायकराम पल्थी मारे भाँग घोट रहे थे। यह काम वह सेवकों से नहीं लेते थे। कहते कि यह भी एक विद्या है, कोई हल्दी-मसाला तो है नहीं कि जो चाहे पीस दे। इसमें बुद्धि खर्च करनी पड़ती है, तब जाकर बूटी बनती है।"

प्रेमचंदजी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उनमें रंग भरते-भरते आप थक जाते हैं तब झट उनका गला घोट डालते हैं। 'सेवासदन' में कृष्णचंद्र नदी में डूबकर आत्म-हत्या करता है, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री पहाड़ से गिरकर जान देती है और 'रंगभूमि' में विनय पिस्तौल द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढंग दोषपूर्ण मालूम होता है। कुछ दार्शनिकों

ने आत्महत्या की सिफ़ारिश की है। कवि भी कभी कभी दुःख से छुटकारा पाने के लिए अपने पात्रों को आत्महत्या की शरण देते हैं। पर आत्महत्या का नीति तथा धर्मशास्त्र दोनों में निषेध है। और धर्म और नीति दोनों की अवहेलना करना न कवि के लिए योग्य है, न उपन्यास-लेखक के लिए। उपन्यास-लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है। पर इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध हो उसका लेखक द्वारा सम्मान किया जाय। जहाँ तक हमारा अनुमान है, प्राचीन ग्रंथकारों ने इस प्रकार शास्त्रीय आज्ञाओं की अवहेलना नहीं की है।

परंतु इतना होते हुए भी प्रेमचंदजी के उपन्यासों का महत्त्व कम नहीं होता। हम हेमचंद्रजी जोशी की प्रेमचंद के प्रति आलोचनाओं से सहमत नहीं हैं। ये उपन्यास क्षणभंगुर नहीं हैं। हिंदी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि कभी हो, और योरप के विद्वान् प्रेमचंद की रवींद्रनाथ ठाकुर और टाल्स्टाय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपन्यास भी कुछ महत्त्व रखते हैं। प्रेमचंद का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिकेंस और टाल्स्टाय को योरपीय साहित्य में प्राप्त है। भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित बंगालियों की अट्टालिकाओं में है। उसका हृदय दिहात में है, किसानों के टूटे-

फूटे झोपड़ों में है। हरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है। अनावृष्टि से वह सूख जाता है। उस हृदय का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवाद-पात्र है। अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है। अभी उन्हें नहीं मालूम है कि उन्हीं के समान किस सरल-प्रकृति तथा अस्वस्थ व्यक्ति ने शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ झेलते हुए उनके दुःखों और आशाओं की कथा कही है। जब वे शिक्षित हो जायँगे, जब उनकी आँखें खुलेंगी, और अपने पूर्वजों का चित्र जब वे इन उपन्यासों में देखेंगे, तब इनके विधाता की पूजा होगी। हाँ, अभी कुछ समय तक नहीं।

११—छड़ी*

रोगियों की बात जाने दीजिए। रसिक लोग जब पहाड़ों की सैर करने जाते हैं तो तरह तरह के तोहफ़े मित्रों के लिए लाते हैं। मेरे भी एक मित्र मंसूरी सैर करने गये। आपको वहाँ छड़ियाँ ही पसंद आईं। फिर क्या था, दो दर्जन बाँध लाये। घर पहुँचे, मित्रों ने घेरा, बात ही बात में सब छड़ियाँ बँट गईं। एक छड़ी मेरे भी हिस्से में आई। मैं पहले ही पहुँच गया था। छाँटकर एक बढ़िया मूठ की ऐसी स्टिक निकाली जो यहाँ किसी दुकान पर डेढ़ दो रुपए से कम में न मिलती। परंतु ढेर का ढेर आगे लगा देखकर मुझको एक हँसी सूझी। "क्या ये छड़ियाँ मंसूरी जानेवालों को मुफ़्त बँटती हैं?" मित्रवर बड़े हाज़िरजवाब थे। बोले "जी नहीं। जानेवालों को तो नहीं, लेकिन उनके दोस्तों को ज़रूर यों ही बँटती हैं।" मैंने जवाब और छड़ी लेकर हँसते हुए घर की राह ली।

अभी तक इनका नाम नहीं बताया है न बताऊँगा। क्या करूं, छड़ी की कहानी लिखने की अनुमति उन्होंने इसी शर्त पर दी कि न मैं उनका नाम लिखूँ, न उनके उस मुँहलगे मित्र का जिसके कारण छड़ी का एक छोटा-सा गल्प बन गया है। अतः

* इस कहानी में जोज़फ़ ऐडिसन की शैली के अनुकरण करने की चेष्टा की गई है। Abventures of a Shilling से तुलना कीजिए।

पाठक कल्पित नाम से संतुष्ट रहें। मंसूरीवाले महाशय का नाम 'राजा' है और उनके मुँहलगे दोस्त हैं "मुन्नू"।

राजा ने और सब छड़ियाँ तो बाँट दीं, पर एक छड़ी किसी को न दी। इसको उन्होंने मंसूरी पहुँचते ही ख़रीदा था। आप इस पर कुछ ऐसे प्रसन्न हुए कि जब से यह उनके हाथ लगी तब से हमेशा उनके साथ रहने लगी। इसने मंसूरी की सैर की और कंपटी फ़ाल्स के पास उनकी हड्डियों को चूर चूर होने से बचाया। इसलिए उनका प्रेम इस पर कुछ और बढ़ गया था। घर पहुँचने पर यह छड़ी अलग रख ली गई। मुन्नू महाशय के सामने बँटनेवाली छड़ियों का ढेर लगा था, पर वह उसी अलग रक्खी हुई छड़ी पर रीझे। आपने कहा कि मैं तो यही लूँगा। राजा ने एक छड़ी की जगह दो, तीन तक दीं। परंतु मुन्नू जब मचलते हैं, तब किसी की नहीं सुनते। राजा भी अड़ गये, "न लो, मैं यह छड़ी नहीं देने का।" मुन्नू ने व्यंग्यमय "बहुत अच्छा" कहकर झगड़ा ख़तम किया; फिर छड़ी न माँगी।

इस घटना को हुए कोई दो वर्ष हो गये। छड़ी हमेशा राजा के साथ रही। आपके घर में काफ़ी रुपया है और ज़मींदारी भी है। पढ़े-लिखे भी हैं। नई जवानी में आपने कविताएँ भी कीं। अब कुछ समय से आपको देश-सेवा और भ्रमण से प्रेम हो गया है। जहाँ कोई बड़ी सार्वजनिक सभा होती है, आप ज़रूर पहुँचते हैं। छड़ी को आप कभी छोड़ते न थे। यदि छड़ी के दिमाग़ होता तो वह विदुषी हो गई होती। उसने रौलट बिल

पर शास्त्रीजी की बहस सुनी। दिल्ली-स्टेशन के सामने अपार जन-समूह के एक ओर वह भी अपने प्रियतम के साथ खड़ी थी। हंटर-कमेटी के सदस्यों को भी उसके दर्शन हुए। आप बड़े गौरव के साथ कहते थे कि प्रश्न तो वे मुझसे करते थे, परंतु उनकी नज़र मनमोहिनी छड़ी ही पर थी। अमृतसर-कांग्रेस की कीचड़ में उसकी हालत ख़राब हो गई थी। पर दूसरी बार जब मैंने राजा को बंबई में देखा तब उसकी आभा पहले से भी अधिक हो गई थी। उस पर बहुत उम्दा वार्निश चढ़ गया था, और चाँदी की फ़ैंसी मूठ भी लग गई थी। नागपुर-कांग्रेस ऐसे असहयोगी समाज में भी इसकी इज्ज़त बनी रही। कलकत्ते तक में मलाकाछड़ियों के मुक़ाबिले वह उनके साथ रही।

परंतु इधर क़रीब एक महीने से मैंने उनके हाथ में छड़ी नहीं देखी। बिना छड़ी के उनकी चाल कुछ अड़बंगी-सी मालूम होती थी। एक दिन रास्ते में मिले। वहीं कुछ व्यंग्य सूझा और मैंने पूछा, "आपकी विलायती अर्धांगिनी आजकल कहाँ हैं?" कुछ फ़िक्र और जल्दी में थे। सिर्फ़ इतना कहकर चलते हुए कि छड़ी को पूछते हो, वह तो पटने में खो गई।

एक रोज़ बे वक्त मैं राजा के घर पहुँचा; सीधा कमरे में घुस गया। आप बैठे एक पत्र हँसते हुए पढ़ रहे थे। मैंने कहा—"मैं भी शामिल हो सकता हूँ?" राजा ने पत्र मेरे हाथ में देकर कहा—"यह न समझना कि मेरी किसी बोलती-चालती प्रणयिनी का पत्र है।" पाठकों के मनोरंजनार्थ पत्र ज्यों

का त्यों उद्धृत है। सिर्फ़ जगह और नाम बदल दिये गये हैं।

कानपुर

ता० १ अप्रेल, १९२१

प्रियतम,

तुमसे वियोग हुए एक महीने से अधिक हो गया। तुमने मेरी सुधि तक न ली। और लेते ही क्यों। तुम जितना मुझ पर प्रेम प्रकट करते थे वह मित्रों को दिखाने ही के लिए था जिससे मैं तुम्हारे साथ से अलग न होऊँ। परंतु यह मैं क्योंकर मानूँ। यदि किसी से मुझको डाह हो सकती थी तो श्रीमतीजी से, क्योंकि मंसूरी से आई हुई मेरी तमाम संगिनियों को तुम अपने मित्रों को बाँट चुके थे। मैं अकेली रह गई थी। मैं जड़ हूँ और श्रीमतीजी चैतन्य हैं। फिर भी मुझ पर तुम्हारा अनुराग देखकर वे मुझसे कुढ़ा करती थीं। क्या आपने कभी श्रीमतीजी को भी घर से बाहर जाने की आज्ञा दी? सोचती हूँ और अंत में यही समझ में आता है कि तुम बड़े बुद्धिमान हो। यदि यह भेद न रखते, तो कदाचित श्रीमतीजी भी किसी ट्रिप में खो जातीं। मेरे लिए क्या, यदि आज मैं खो गई तो कल तुमको मेरी ऐसी सैकड़ों मिल जायँगी। जेब में सिर्फ़ दाम होना चाहिए।

परंतु दुःख यह है कि तुमने मेरे लिए कुछ भी प्रयत्न न किया। त्रेता युग में जब सीताजी को रावण हर ले गया

था, उस समय न रेल थी न तारघर था, परंतु राम ने उनके लिए आकाश-पाताल छान डाला और अंत में रावण को मारकर ही उन्हें संतोष हुआ। मेरी और सीता की भला कौन समता? परंतु क्या तुम एक तार तक न दे सकते थे? क्या पुलिस को सूचना भी न दे सकते थे? नहीं तो दुष्ट मुन्नू—उसकी दृष्टि मुझ पर जब से मैं तुम्हारे यहाँ आई, तभी से थी—के पाले मैं क्यों पड़ती। मेरा हृदय तो तब ठंडा होता जब वह पड़ा-पड़ा जेलख़ाने में सड़ता, और मैं फिर तुम्हारे साथ पहाड़, नदी और समुद्र की सैर करती तथा सभाओं में उच्च आसनों पर तुम्हारी बग़ल में बैठकर महात्मा गांधी और महर्षि मालवीय की वक्तृताएँ सुनती।

जब से इस निर्दयी के पाले पड़ी हूँ, मुझे बड़ा कष्ट है। मेरी बड़ी दुर्गति हो गई है। हाय, वह दुःख मैं कैसे प्रकट करूँ—गिरा अनयन नयन बिनु बानी। तुम एक तो हलके शरीर के हो, और फिर तुम्हें मेरी कमर का हमेशा ख़याल रहता था कि कहीं वह टेढ़ी न हो जाय; और जो कभी मेरा सहारा लेकर खड़े भी होते थे तो थोड़ा-सा लचने में मुझे विशेष आनंद ही मिलता था। परंतु यह पेटू ब्राह्मण तीन मन से कम न होगा। एक तो रास्ते में मुझे ठुकराता हुआ चलता था, जिसके कारण मेरा तमाम शरीर बहुत शीघ्र छिल गया। दूसरे, जब कभी मेरे कंधे पर सहारा देकर खड़ा होकर मित्रों से बातें करने लगता था तब मेरी कमर तो टूटने-सी लगती थी।

मित्रों को तरस आ जाता था, कहते थे कि क्या कुछ दाम नहीं खर्चे हैं जो इसकी ऐसी दुर्दशा कर दी है। दुष्ट हँसता था, "समय सब नाहिं बराबर जात—किसी समय इसकी अच्छी दशा थी; अब पुरानी हो गई है। कुछ दिन में जब बिलकुल बेकार हो जायगी तब इसके मालिक को लौटा दूँगा।"

इस प्रकार वह दिन भर मुझे कानपुर की गंदी सड़कों पर रगड़ता था; शाम को उसके घर पहुँचकर आशा करती थी कि अब चैन की नींद सोऊँगी, परंतु मुझे तब भी शांति नहीं मिलती थी। सीधा रसोईघर पहुँचकर मुझे एक कोने में डाल देता था और स्वयं भोजन करने बैठ जाता था। उसकी स्त्री की कभी कभी मुझ पर दृष्टि पड़ जाती थी तो वह तुम्हारी क्षेम-कुशल पूछने लगती थी। यह क्या मुझ पर उसका कम एहसान है कि यों तुम्हारा शुभ नाम सुन लेती थी। परंतु मुन्नू प्रसंग आने पर बुराई ही करता था। कहता था, तुम कहती हो कि बड़ा समझदार है; होगा, परंतु है स्वार्थी। यदि मेरी इसकी ऐसी—मेरी ओर संकेत करके—कोई चीज़ खो जाती तो मैं आकाश-पाताल एक कर देता, तुम्हें तक निछावर कर देता, परंतु उसे हाथ से न जाने देता। ऐसी-ऐसी बातें सुनकर मेरा हृदय और भी जला करता था।

अब मैं अपनी अंतिम दशा का हाल क्या कहूँ। दिन भर ठोकरें खाते-खाते और रात भर उसके कमरे में पड़े-पड़े बहुत दुर्बल हो गई थी। एक दिन एक इक्केवाले से तकरार हुई; यदि

क्रोध आया था तो अपना हाथ ही दे मारता। परंतु उसको अपने हाथ का मेरी कमर से ज़्यादा ख़याल था। बस भरपूर ताक़त से उसने मुझको उठाकर इक्केवाले की पीठ पर पटक दिया। फिर क्या हुआ, इसका मुझे होश नहीं। जब होश आया तब देखा कि उसी कमरे में पड़ी हूँ, मेरी कमर टूट गई है, किसी ने उसको यत्न से बाँध दिया है, जिससे मेरा कष्ट कम हो गया है। परंतु अब मैं किसी काम की नहीं रह गई हूँ। अब मेरी अंतिम इच्छा यही है कि तुम आकर मुझे ले जाओ। मैं यही चाहती हूँ कि मेरी अंतिम क्रिया तुम्हारे ही हाथ से हो।

तुम्हारी—

छड़ी

मैंने आद्योपांत पत्र पढ़ा और फिर पढ़ा। पत्र क्या था, गद्य में एक लंबी-सी कविता थी। मैंने आप ही आप कहा—वाह मुन्नू! तुम कवि कब से हुए? तुम्हारी प्रतिभा अब चमकी। अब तक तुम्हें कोई टके को भी नहीं पूछता था। परंतु अब गल्प लिखकर अपना पेट ख़ूब भर सकोगे। राजा को उत्तर ही की धुन थी। बोले "भाई, कोई समय था जब मैं कविता कर सकता था; गल्प भी लिख सकता था; परंतु अब तो दिमाग़ में राजनीति, असहयोग, इतिहास इत्यादि नीरस विषय भरे हुए हैं। कुछ तुम्हीं सहायता करो। इस नवीन कवि

को तो मुँह-तोड़ उत्तर भेजना है। मैंने सोचा कि अपनी भी वही दशा है। दिमाग़ में अकबर-जहाँगीर से लेकर मांटेग्यू-चैम्सफ़ोर्ड तक मुर्दे या ज़िंदे नीरस कूटनीतिज्ञ ही भरे पड़े हैं, या लड़कों के परीक्षा-पत्र। यहाँ भी सरसता से कोई संबंध नहीं। उत्तर दिया "दो-एक दिन ठहर जाओ, कुछ तैयारी मैं भी कर लूँ।"

घर आया। धूरि-धूसरित उपन्यासों और काव्यों की ओर फिर दृष्टि दौड़ाई। दो-एक को उलट-पुलटकर पढ़ा। कुछ समझ में आया, कुछ नहीं। सोचा इस नये कवि के लिए इतना ही यथेष्ट है।

अवकाश मिलने पर राजा के घर पहुँचा। कवियों और उनकी कविताओं, गल्पलेखकों और उनकी कल्पनाओं पर बहस होती रही। अंत में मैंने कालिदास के 'मेघदूत' का ज़िक्र किया। बस राजा की कल्पना-शक्ति जाग उठी। बोले, "अब तुम्हारी सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। मज़मून बँध गया। कल सबेरे आकर देख जाना, तब पत्र भेजूँगा।"

पत्र लिख गया। राजा ने उसको होशियारी के साथ बक्स में बंद कर कुंजी अपनी टेंट में की, इसलिए कि कहीं ऐसा न हो कि उस पर श्रीमतीजी की दृष्टि पड़ जाय और वह कुछ और का और समझें। प्रातःकाल पत्र मुझे मिला। उसको भी अक्षरशः लीजिए—

लखनऊ

८ अप्रेल, १९२१

प्रिये,

तुम्हारे वियोग की अग्नि यहाँ भी मुझे जला रही थी। एक महीने के भीतर तुम्हारे विरह के शोक में घुलते-घुलते आधा रह गया हूँ। राह चलते लोग मुझको ठोकते हैं। मेरी क्षेम-कुशल पूछते हैं और तुम्हारी याद दिलाते हैं। मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ? मुझे क्या मालूम था कि तुम छलिया मुन्नू के पास हो। नहीं तो जो दुर्गति तुम्हारी हुई है, वही हम उसकी करते।

तुम्हारे आँसुओं में लिखे हुए पत्र को पढ़कर मेरी भी अश्रुधारा बह चली, वियोगाग्नि धधक उठी। प्रिये, मैं अपना प्रेम तुम पर कैसे प्रकट करूँ। तुमने मुझ पर भी व्यंग्य कसा है, परंतु मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि जब से तुम मुझसे अलग हुई तब से—लोग कहते हैं—बाज़ार में तुम्हारी ऐसी बहुत हैं—मैंने किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। चाहे दिन हो या रात, आकाश स्वच्छ हो या पानी बरस रहा हो, मैं अकेला ही जाता हूँ। तुम्हारी उस सहायता को कभी न भूलूँगा, जो तुमने मुझे केंपटी फ़ाल्स के पास दी थी। यदि मैं दशरथ होता तो आवश्यकता के समय माँगने के लिए कोई वचन दे देता। परंतु यह मैं भी कर सकता हूँ कि तुम्हारे ही हाथ से मुन्नू को दुरुस्त कराऊँ। बस, तुम्हारी आज्ञा की देर है।

तुम्हारा पत्र मुझे भीगा हुआ मिला। तुम्हारे आँसू तो पत्र लिखते ही लिखते सूख गये होंगे, सिर्फ़ उनकी झलक बाक़ी थी। उसमें तरावट उस कुसमय मेघ की ही होगी जो तुम्हारे पत्र को प्रेरित करके मेरी मेज़ पर छोड़ गया है। विरही यक्ष ने मेघ ही द्वारा अपनी प्रणयिनी को संदेशा भेजा था। सो अवसर तुम्हीं को मिला। अब आकाश स्वच्छ है। कोई मेघ नहीं दिखाई देता। वसंत की सुगंधि से लदी हुई वायु मेरे झरोखे से होती हुई दक्षिण की ओर जा रही है। लो यह पत्र मैं वसंत ही के हाथ भेजता हूँ। वसंत! जाओ, यहाँ से कानपुर तक निष्कंटक मार्ग है। तुम्हें कालिदास के मेघ की भाँति मार्ग में न कोई पहाड़ मिलेगा, न नद, न कोई नगर। खेत ही खेत मिलेंगे। कोई समाधि लगाये हुए शंकर भी नहीं मिलेंगे। यों ही सब तुम्हारे मोह में फँसे हुए हैं। लखनऊ की सीमा तक और ख़ास कर छावनी में तुमको कलियुगी देवी और देवता मिलेंगे। पर उनके बाद गंगा के किनारे तक तुम्हें मृत्युलोक के जर्जर नर-नारी ही दिखाई देंगे। गंगा पार करने में तुम्हें कोई कठिनाई न होगी। अब उनकी वह महिमा नहीं रही है जो उनके पुराने उपासकों ने गाई है। अब तो यह डर है कि तुम कहीं उस बालुकामय मैदान में झुलस न जाओ। कानपुर में प्रणयिनी के घर तक पहुँचने में भी तुम्हें बहुत कठिनाइयाँ झेलनी पड़ेंगी। कलियुगी कारख़ानों के धुएं से बच-कर जाना। सड़क से न जाना। वहाँ मोटरों की दुर्गंधि से

तुम कदापि न बच सकोगे। गलियाँ फिर ग़नीमत। एक ऐसी ही गली में पहुँचने पर एक अँधेरे कमरे के कोने में पड़ी हुई मेरी प्रणयिनी रो रही होगी। अपने ठंडे वायु से उसके हृदय को शीतल करना। यह पत्र देना और संदेशा कहना कि या तो बहुत शीघ्र मैं ही तुम्हें आकर ले जाऊँगा, या मुन्नू को ही यह सज़ा दूँगा कि वह तुम्हें भली भाँति मेरे पास तक पहुँचा दे।

तुम्हारा—

राजा

पत्र पढ़कर मैंने कहा कि वाह राजा! तुम तो द्वितीय कालिदास हो गये। मैं कुछ अपनी तारीफ़ भी चाहता था। राजा ख़ुश हुए, "यह उपाधि तुम्हारे ही योग्य है। तुम्हें तो कुछ और नहीं लिखना है; अब मैं लिफ़ाफ़ा बंद करूँ?" मैंने मुन्नू को एक छोटा-सा नोट लिख दिया—कहो कुछ बढ़कर उत्तर रहा न? छड़ी लेकर आओ, तुम्हारी पेट-पूजा होगी। लिफ़ाफ़े पर लिखा गया—

श्रीमती छड़ी देवी

C/o मुन्नू मिश्र

अमुक मोहाल

कानपुर

चार दिन बाद मुन्नू महाशय का पत्र आया। "तुम्हारे पत्र ने तो घर को कोप-भवन बना दिया। कहीं उसका कुछ अंश तुम्हारी भाभी महाशया को मालूम हो गया। तब से मुझ पर

बहुत रूठी हैं। आजकल उनका सुंदर मुखड़ा देखते ही बनता है। पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। सचमुच पेट-पूजा की आवश्यकता थी। छड़ी लेकर आता हूँ।"

राजा के घर आज छोटा-सा उत्सव है। श्रीमतीजी दौड़ दौड़कर सामान जुटा रही हैं। भोजन तीन ही मित्रों के लिए है। परंतु मुन्नू कहता है कि एक दर्जन के लिए प्रबंध करो, क्योंकि एक मैं दस राजाओं के बराबर हूँ। भोजन परोसा गया। छड़ी सामने रक्खी गई। मैंने कहा, "छड़ी देवी के आभूषण उतार लो, और चूल्हे में इनकी अंतिम क्रिया कर दो। देखो, भाभीजी कितनी प्रसन्न हैं। आज राजा की ओर से उन्हें संतोष हुआ है" भोजन करते करते मैंने मुन्नू से कहा कि छड़ी ने तो एक गल्प बना दिया। बोले—"तो प्रकाशित करा दो। नाम हमारा, और काम तुम्हारा।" मैंने राजा की ओर देखा। पहले तो वह राज़ी न हुए। परंतु मुन्नू को अपनी कृति के प्रकाशित कराने की बड़ी इच्छा थी। इसलिए मेरे बहुत अनुरोध करने पर उन्होंने स्वीकृति दे दी। यह कहानी उसी स्वीकृति का परिणाम है।

——